

नानेशवाणी-37

# उभरते प्रश्नः समाधान के आयाम

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर (राज.)

नानेशवाणी-37

# उभरते प्रश्नः समाधान के आयाम

आचार्य श्री नानेश

प्रथम संस्करण : 1986, 1100 प्रतियाँ  
द्वितीय संस्करण : 2004, 1100 प्रतियाँ  
तृतीय संस्करण : फरवरी 2010, 1100 प्रतियाँ  
चतुर्थ संस्करण : अगस्त 2014, 1100 प्रतियाँ

मूल्य : 65/-

अर्थ सहयोगी :

**श्रीमान् सन्तोषकुमारजी, श्री सुशीलकुमारजी,  
श्री बादलकुमारजी पुगलिया, चैन्नई**

प्रकाशक :

**श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन मंघ**

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग, नोखा रोड,  
बीकानेर-334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261, 0151-2270359 (फैक्स)

visit us : [www.shriabsjainsangh.com](http://www.shriabsjainsangh.com)

e-mail : [absjsbkn@yahoo.co.in](mailto:absjsbkn@yahoo.co.in)

आवरण सज्जा व मुद्रक :

**तिलोक प्रिंटिंग प्रेस**

मोहता चौक, बीकानेर - 01 मो. 09314962475

**प्रश्न-1** : मनुष्य जो कार्य करता है, वह अपने पूर्वजन्म के कार्यों के आधार पर “**प्रारब्ध और पुरुषार्थ**” के प्रभाव में करता है। इस तरह तो पूर्व के जन्मों में जिसने पाप किया, वह उसके प्रभाववश अगले जन्मों में भी वैसा ही कार्य करता रहेगा। उसको वैसा ही फल प्राप्त होता रहेगा। इस तरह पापी सदैव पापी ही रहेगा और पुण्यवान जीव सदैव पुण्य ही प्राप्त करता रहेगा। यदि ऐसा है, तो अनादि अनन्त काल पूर्व जब कभी भी प्रथम जन्म हुआ होगा, तो उसके द्वारा प्रथम कार्य का नियमन कैसे हुआ होगा और क्यों ? तथा किसके द्वारा ?

**उत्तर** : आत्मा वर्तमान में जो भी कार्य करती है, वह सिर्फ पूर्व जन्म के कर्मोदय के प्रभाव से ही करती हो, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। इस जन्म के पुरुषार्थ एवं क्रिया-कलापों से नये कर्म भी उपार्जित कर लेती है और पहले के अनिकाचित कर्मों को शीघ्र भोग भी सकती है। अतः आत्मा जब नये कर्मों का उपार्जन एवं अनिकाचित कर्मों का परिभोग जल्दी भी कर सकती है, तो ऐसी स्थिति में उसका नियामक भी वह स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। अन्य निमित्त बन सकते हैं।

किसी भी आत्मा की शुरुआत नहीं हुई, वह तो अनादि काल से कर्मों के परिणामस्वरूप ही विभाव दशा में भटक रही है। इस प्रकार आत्मा अनादि काल से चली आ रही है। भव्यात्मा सम्यक् अवबोध के साथ सत्पुरुषार्थ से कर्म विमुक्ति का कार्य पूर्ण करले, तो सदा सर्वदा के लिए दुःखों से मुक्त भी हो सकती है।

**प्रश्न-2** : अविरति सम्यक् दृष्टि आत्मा की अन्तरंग परिणति तथा बाह्य प्रवृत्ति कैसी होती है ?



**उत्तर :** सम्यक् दृष्टि की आन्तरिक परिणति वीतराग देव के सिद्धान्तानुसार सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की दृढ़ आस्था के रूप में होती है। वह सम्यक् दृष्टि अरिहंत एवं सिद्ध भगवन्तों की वीतराग दशापूर्वक स्वरूप-रमण-रूप आस्था का अनुभव करने की चेष्टा करता है। इसको लक्ष्य में रखकर सुगुरु की आस्था भी निर्ग्रन्थ अवस्था के अनुरूप रखता है। सुधर्म के स्वरूप को विश्वास रूप से हृदयंगम करने के लिए सम्यक् ज्ञान का अवलम्बन लेता है तथा जीवादिक तत्त्वों का यथार्थ विज्ञान करने की शक्ति भर चेष्टा रखने की आस्थावाला होता है। जैसे-जैसे भेद विज्ञान की अभिवृद्धि के साथ हेय, ज्ञेय और उपादेय की अवस्था में प्रवीण होता है, वैसे-वैसे स्वरूप में रमण किस विधि से किस प्रकार होता है, इसका भी विज्ञान करने लगता है तथा आन्तरिक स्थूल एवं सूक्ष्म परिणतियों का विज्ञानपूर्वक वर्गीकरण करता रहता है। साथ ही उपरोक्त अवस्था से आनन्द का अनुभव करता है - इत्यादि आन्तरिक परिणति के परिणामस्वरूप मन में समताभाव के अंकुर अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। जैसे-जैसे इन भावों की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ममत्व रूप आसक्ति की ग्रन्थियाँ शिथिल होने लगती हैं। मोह-सम्बन्धी वासना फीकी, सारहीन मालूम पड़ने लगती है और उससे उदासीनता की अभिवृद्धि होने लगती है। कषाय की परिणति भी मंदता की ओर अग्रसर होने लगती है। अन्य आत्माओं को स्वात्मा के तुल्य समझता हुआ “**आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।**” की भावना को आचरण रूप में परिणत करता है। पाँच इन्द्रियों के मोहक विषयों का मन में आकर्षण नहीं होता अर्थात् उसमें मोहित नहीं होता। सेक्स की भावना मन्द-मन्दतर होती रहती है। स्त्री आदि परिवारिक-जनों से मोह की दशा सिकुड़ती जाती है। समग्र विश्व के समस्त प्राणियों को परिवार के रूप में अर्थात् ‘**वसुधैव कुटुम्बकम्**’ के रूप में देखने लगता है। भूतकाल की दृष्टि से समस्त प्राणियों के प्रति माता-पितादि सम्बन्धों का विशेष अनुभव करने लगता है। यह भी सोचता है कि उन सब के उपकारों से उन्नत होने के लिए उनको किस

रोज अभयदान दूँ? सभी के प्रति समभावपूर्वक कल्याणमय भावना प्रेषित करनेवाला कब बनूँ? वर्तमान के माता-पितादि पारिवारिक-जनों के लिए ही इस जीवन को लेकर चलता हूँ, गृहस्थाश्रम में रहता हूँ, तो अनंतानंत भूतकालीन माता-पितादि को विनष्ट करने से बच नहीं सकता। मानव जीवन ही एक ऐसा अवसर है, जिससे समग्र जीवों के उपकार से उद्धार हो सकता हूँ। इसके लिए एक मात्र साधन, समग्र आरम्भ-परिग्रह का त्यागकर “**खंतो दंतो निरारंभो**” बनकर निर्ग्रन्थ पद की साधना में जिस दिन तन्मय बनूँगा, वह दिन मेरा धन्य होगा। इत्यादिक मानसिक विचार तरंगों अत्यधिक तरंगित होती हैं। तब वे प्राणी के रूप में भी प्रवाहित होने लगती हैं। परिणामस्वरूप वचन परिणति भी समग्र प्राणियों के लिए हितकारी, मितकारी तथा मधुर रूप में राग-द्वेष की परिणति से रहित समता के रूप में अभिव्यक्त होने लगती है। उन्हीं मानसिक, वाचिक वृत्तियों में तीव्रता आने से कायिक परिणति मन-वचन के अनुसार अन्य आत्माओं के साथ परिणति होने लगती है तथा पर पदार्थों को वैभाविक भाव की परिणति में निमित्त मानकर उनसे यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करने लगता है। उससे स्वरूप रमण की पुष्टि स्वयं की ही कायिक प्रवृत्ति से स्पष्ट होने लगती है। ऐसे अनेक प्रसंगों से सम्यक् दृष्टि आत्मा की आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रवृत्ति का विज्ञान किया जा सकता है।

**प्रश्न-3 :** प्रतिक्रमण का काल कहाँ तक कैसे समझना ? बीस बोल तीर्थंकर नामकर्म के बताये हैं, उसमें 11 वें बोल में कालोकाल प्रतिक्रमण करता हुआ जीव कर्मों की कोड़ खपावे आदि। ज्ञान के अतिचार में भी बताया है कि “**अकाले कओ सज्जाओ, काले न कओ सज्जाओ**” यदि साधुजी के बड़े ध्यान के बाद श्रावक आज्ञा लेते हैं, तो प्रतिक्रमण, जो सूर्यास्त के बाद एक मुहूर्त में होना चाहिए, उससे अधिक समय लगने से काल का उल्लंघन नहीं होता क्या ? यदि हो, तो प्रायश्चित्त का भी कारण बनता है या नहीं ?

**उत्तर :** सूर्यास्त होते-होते संतों के प्रतिक्रमण चालू होने का प्रसंग रहता है। उनके बड़े ध्यान तक लगभग 10 मिनट लग सकते हैं।



तदनन्तर श्रावक यदि प्रतिक्रमण की आज्ञा ले, तो उनका प्रतिक्रमण समय पर हो सकता है। यदि सवैया वगैरह अधिक न बोले, तो श्रावक के प्रतिक्रमण में साधु प्रतिक्रमण की अपेक्षा समय कम लगता है - ऐसा अनुमान है।

प्रतिक्रमण का काल 48 मिनट के आस-पास का रहता है। कभी धीरे-धीरे बोलने आदि की परिस्थितिवश समय अधिक लगे, तो 60 मिनट के आस-पास प्रत्याख्यान हो जाना चाहिए। इससे भी अधिक समय लगे, तो उसकी आलोचना करके प्रायश्चित लेना चाहिए।

**प्रश्न-4 :** गृहस्थ जीवन में गृहस्थी को अपनी गृहस्थावस्था समाज के अनुकूल चलानी पड़ती है। उनके लिए आज के भौतिक स्तर पर अधिक धन उपार्जन की समस्या रहती है, जिससे उसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में वह पाप से कैसे बचे ?

**उत्तर :** कटु चिरायता को स्वस्थ स्थिति में कोई भी मानव पीना नहीं चाहता, किन्तु रोग निवारण हेतु लेना पड़ता है। उस समय उसकी भावना यही रहती है कि जितना कम लिया जाये, उतना अच्छा है और उसमें भी वह स्वाद लेने की भावना नहीं रखता। वैसे ही विकारी अवस्था रूप रोग को शमन करने हेतु लाचारीवश जो कुछ भी करना पड़े, उसमें आसक्ति का जायेका नहीं लेते हुए, हिंसा आदि को हिंसा के रूप में मानकर, तटस्थ भाव से उत्तरदायित्व का निर्वाह करना अपना कर्तव्य समझे। जैसा कि अनुभवियों का कहना है-

**सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।**

**अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।**

इस भावना को सदा ध्यान में रखें, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि आज के परिवेश में यदि उसे पाप से बचना है, तो झूठे प्रतिस्पर्धात्मक प्रदर्शन से ऊपर उठना होगा। अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। इच्छाओं, उद्दाम लालसाओं पर विजय प्राप्त करनी होगी। यदि पाप से बचना है, तो जीवन- चर्या सादी बनानी होगी। हिंसाचारी आदि का सहारा अधिक सुविधाओं को जुटाने के लिए करना

पड़ता है। सुविधावादी दृष्टिकोण नहीं हो और सीमित आवश्यकताओं में निर्वाह किया जाये, तो पाप से एक सीमा तक बचा जा सकता है।

**प्रश्न-5 :** 'जैन तत्त्व प्रकाश' में जो बाइस प्रकार के अभक्ष्य बतलाये गये हैं, क्या वे सर्वमान्य हैं ?

**उत्तर :** 'जैन तत्त्व प्रकाश' में बतलाये गये 22 प्रकार के अभक्ष्य सर्वमान्य एवं आगमसम्मत नहीं है। वह व्यक्ति विशेष का अभिमत हो सकता है।

'जैन तत्त्व प्रकाश' में निम्न अभक्ष्य बतलाये हैं :-

- |                  |                 |
|------------------|-----------------|
| 1. बड़ के फल     | 8. मद्य         |
| 2. पीपल के फल    | 9. मक्खन        |
| 3. गूलर के फल    | 10. हिम (बर्फ)  |
| 4. कठभूर के फल   | 11. विष         |
| 5. पाकर के फल    | 12. ओला         |
| 6. मदिरा         | 13. माटी        |
| 7. माँस          | 14. रात्रि भोजन |
| 15. पंपोट फल     | 19. बैंगन       |
| 16. अनन्तकाय     | 20. अनजाने फल   |
| 17. अथाना (अचार) | 21. तुच्छ फल    |
| 18. धोलवड़े      | 22. चलित रस     |

किन्तु शास्त्रकारों ने उपरोक्त सभी वस्तुओं को अभक्ष्य नहीं बतलाया है। 'दशवैकालिक सूत्र' में साधुओं के अनाचार बतलाते हुए कहा है-

**मूलाए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिक्कुडे।**

**कंदे मूले य सचित्ते, फले बीए य आमाए॥**

**अर्थ :-** सचित्त मूला, अदरख, इक्षुखण्ड कन्द-वज्रकंद आदि, मूल जड़, आम, नींबू आदि और तिलादि का सेवन न करे अर्थात् अचित्त प्रासुक हो, तो ग्रहण कर सकता है।

यदि उपरोक्त कथनानुसार, अनन्तकाय इक्षुरस, बहुबीजी फल



आदि वस्तुएँ शास्त्रकारों की दृष्टि में अभक्ष्य होते, तो साधु को चाहे सचित्त हो या अचित्त, प्रासुक या अप्रासुक, शास्त्रकार स्पष्ट निषेध कर देते। किन्तु निषेध नहीं किया, बल्कि उस गाथा से प्रासुक हो, तो साधु ग्रहण कर सकता है, फलित होता है। अतः सिद्ध है कि अभक्ष्य नहीं।

दूसरी बात पंपोट फल, अनार, बैंगन, अंजीर आदि को बहुबीजी होने से अभक्ष्य कहा जाये, तो भिण्डी, नींबू में भी एक से अधिक बीज तो होते हैं तथा फूल गोभी में त्रस जीवों की प्रायः संभावना बनी रहती है, तो उनको भी अभक्ष्य मानना पड़ता है। यदि एक बीज में एक जीव होने पर भी उन सब बीजों के समूह को बहुबीजा कहकर अभक्ष्य माना जाये, तो एक रोटी भी बहुत सारे गेहूँ से बनती है, तो वह भी अभक्ष्य हो जायेगी, जिसे पकाने के लिए भी षट्काय के असंख्य जीवों की हिंसा होती है। तब इतनी हिंसा से निष्पन्न पदार्थ को उपरोक्त युक्ति के अनुसार भक्ष्य कैसे माना जायेगा ?

पानी की एक बूँद असंख्य जीवों का पिंड है। उसमें लीलन-फूलन की नियमा मानी गयी है। लीलन-फूलन अनन्त- कायिक होती है। वैसी स्थिति में पानी भी अभक्ष्य हो जायेगा। वस्तुतः यदि ऐसा माना जाये, तो जगत के सभी प्राणी अभक्ष्य खानेवाले होंगे, क्योंकि वनस्पति भी एकेन्द्रिय है और अन्य पृथ्वी पानी, अग्नि, वायु भी एकेन्द्रिय होने से समान है, किन्तु इन पदार्थों को शास्त्रों में अभक्ष्य नहीं माना है।

बैंगन की दूषित आकृति से उसको अभक्ष्य कहा गया हो, तो तब तो आम्र फल भी उस आकार का होता है, मात्र रंग का ही परिवर्तन रहता है। इसी प्रकार कई फलों में भी आकृति दोष होने से उनको भी अभक्ष्य मानना चाहिए। किन्तु यह आगमाभिमत नहीं है। आगमकारों ने उन्हें भी अभक्ष्य नहीं बताया।

अथाना को भविष्य में फूलन, जीवोत्पत्ति की आशंका से अभक्ष्य कहा गया हो, तो इस प्रकार से तो रोटी, सब्जी में भी भविष्य में फूलन-जीवोत्पत्ति होने की शंका रह सकती है। अतः उन्हें भी अभक्ष्य मानना चाहिए।



मधु-नवनीत को अभक्ष्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपवाद मार्ग में प्रासुक मधु-नवनीत को साधु भी ले सकता है। अगर माँस के समान ये पदार्थ अभक्ष्य होते, तो साधु को हर अवस्था में निषेध कर दिया जाता। शास्त्रकारों ने इनको महाविषय बताया है, किन्तु अभक्ष्य नहीं।

अतः माँस-मदिरा के अतिरिक्त ऊपर कथित अन्य वस्तुओं को अभक्ष्य कहना आगमाभिमत प्रतीत नहीं होता। हाँ, कोई व्यक्ति स्वेच्छा से जितना त्याग करना चाहे, कर सकता है। किन्तु उन्हें अभक्ष्य नहीं कहना चाहिए।

**प्रश्न-6 :** स्वाध्याय के काल-अकाल की मर्यादा 32 आगमों के अलावा किसी प्राकृत ग्रन्थ- जैसे गौतम कुलक, स्तुति अष्टक आदि के बारे में भी रखना चाहिए या कैसे ?

**उत्तर :** स्वाध्याय की काल मर्यादा कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के लिए मानी गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य के लिए काल मर्यादा का ऐसा कोई प्रावधान नहीं है।

**प्रश्न-7 :** कहीं-कहीं निवास के समीपवर्ती घरों में माँस-मच्छी खाते हैं। वह ज्ञात-अज्ञात दोनों ही होते हैं, तो स्वाध्याय में बाधा पड़ती है क्या ?

**उत्तर :** माँस-मच्छी आदि दृष्टि में न आते हों तथा गंध आदि का प्रसंग भी नहीं हो, तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लक्ष्य में रखकर स्वाध्याय करने के लिए सोचा जा सकता है।

**प्रश्न-8 :** शास्त्रों एवं ग्रन्थों आदि को छापना और बेचना क्या यंत्रपीलन कर्मादान के अन्तर्गत लें, क्योंकि यंत्र का उपयोग होता है।

**उत्तर :** शास्त्र आदि का छापना, बेचना आदि यंत्रपीलन कर्मादान के अन्तर्गत नहीं है।

**प्रश्न-9 :** कई प्रश्न करते हैं कि जिसने समकित दूसरे सम्प्रदाय की ले रखी है और वे सबको वंदन करते हैं, तो क्या समकित में दोष लगता है ? इसका सचोट उत्तर क्या देना चाहिए ?

**उत्तर :** सम्यक्त्व का तात्पर्य होता है कि आज से मैं सुदेव-सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा करता हूँ। इस दृष्टिकोण से जो प्रभु महावीर के बतलाये हुए सिद्धान्तों के अनुसार संयमी जीवन यापन करता है, वह गुरु पद के अन्तर्गत समाहित होता है। उसे गुरु बुद्धि से वन्दन करना सावद्य नहीं है। किन्तु जो वीतराग वाणी से विपरीत चलते हों, उन्हें वीतराग वाणी के अनुसार चलने की प्रेरणा देनी चाहिए। यदि प्रेरणा देने पर भी वह अपने कदम नहीं बढ़ाता है, तो उसके प्रति अहिंसक असहयोग यानि उसे वन्दन-सत्कार, सन्मान नहीं देना चाहिए। इसके साथ-साथ सम्यक्त्वी के लिए जो आगार बतलाये हैं, उन आगारों के अन्तर्गत कदाचित् सम्यक्त्वी को कुगुरुओं को वन्दन करने का प्रसंग आता है, तो सम्यक्त्व में दोष नहीं लगता। किन्तु बतलाये गये आगारों का कोई प्रसंग नहीं होने पर भी कुगुरुओं को गुरु बुद्धि से वन्दना-नमस्कार करता है, सत्कार- सन्मान देता है, तो सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व में दोष लगने का प्रसंग आता है।

**प्रश्न-10 :** इस साधनामय जीवन में परम इष्ट गुरु-गुरुणी का मोह ऐसा हो जाता है कि उसे दूर करना अति ही कठिन है। ऐसी अवस्था में चातुर्मास का समय भी निकालना मुश्किल हो जाता है, अतएव ऐसे समय में साधकों को क्या करना चाहिए ?

**उत्तर :** साधकों में गुरु के प्रति प्रशस्त राग भाव होना स्वभाविक है किन्तु वह मोह की संज्ञा से अभिहित नहीं होता।

उस प्रशस्त राग भाव के कारण कभी दूरस्थ क्षेत्र में उनकी स्मृति आना भी सहज है। लेकिन साधक को ज्ञान चक्षु से चिन्तन करना चाहिए कि गुरु की आज्ञा से यदि कहीं भी हैं, तो गुरु के सन्निधि में ही हैं।

**“इगियागारसंपण्णे”** विनीत शिष्य का लक्षण बताया गया है। गौतम स्वामी प्रभु महावीर के अंतिम समय में भी प्रभु का इशारा पाते ही सोमिल ब्राह्मण को प्रतिबोध देने पहुँचे थे। इस आदर्श को सम्मुख रखते हुए विचार करने पर साधक अपनी साधना में सानन्द संलग्न रह सकता है।

**प्रश्न-11 :** कच्ची ज्वार को सेककर जो खाने योग्य बनायी जाती है, उन सिके हुए दानों को लिया जा सकता है या नहीं ?

**उत्तर :** कच्ची ज्वार, जिसे बालु आदि के साथ अच्छी तरह सेक ली हो, वह अचित हो जाती है। जैसे चणा आदि। किन्तु यदि ज्वारी भुट्टे (सिट्टे) के रूप में सेकी गयी हो, तो उसमें अचित की निर्णायक स्थिति नहीं रहती। इसलिए वह अग्राह्य है। भुट्टे के दानों में भी शंका रहती है। इसलिए ग्रहण नहीं किया जाता।

**प्रश्न-12 :** सामायिक प्रतिक्रमणादि को यदि कोई गायन में बनाता है, तो क्या आशातना होती है ?

**उत्तर :** सामायिक प्रतिक्रमण आदि के मूल पाठों के साथ जैसे हिन्दी अनुवाद होता है, वैसे यदि कोई गायन (काव्य) रूप में करता है, तो उसमें आशातना का प्रसंग नहीं है। किन्तु यदि मूल पाठ के प्रति अवमानना अथवा उन पाठों का उच्चारण किये बिना केवल गायन आदि का ही प्रयोग किया जाता हो, तो वह योग्य नहीं है!

**प्रश्न-13 :** छोटा-सा कण घुटने के ऊपर से नीचे गिर जाता है, तो घर असुझता कर दिया जाता है, क्योंकि वायु काय की विराधना होती है। फिर तीन बार ऊठ-बैठकर वन्दन करने से क्या वायुकाय की विराधना नहीं होती ?

**उत्तर :** घुटने के ऊपर से छोटा-सा कण गिरने पर जो घर असुझता किया जाता है, उसके पीछे मुख्यतया गृहस्थ की लापरवाही कारण है, क्योंकि गृहस्थ की लापरवाही से ही सामग्री ऊपर से गिरती है। इसलिए अयतना के कारण घर असुझता किया जाता है, किन्तु वन्दना करने में यह बात नहीं है। यदि अविवेक अथवा अयतना से वन्दना करता है, तो उससे भी कर्मों का बन्ध होता है। पर जो वन्दना के दोषों को टालकर शुद्धभावपूर्वक की जाती है, उसमें पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है -

**जयं चरे जयं चिट्टे, जयं मासे जयं साए।**

**जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बन्धइ।।**

अतः वन्दना यदि यतनापूर्वक की जाती है, तो उससे वायु की विराधना सम्भव भी नहीं है। कदाचित् विराधना हो भी जाती है, तो उससे पाप कर्म का बन्ध नहीं होता तथा शुद्ध भाव से की गयी वन्दना से आत्मशुद्धि होती है।

**प्रश्न-14 :** खमासमणो दो बार क्यों दिया जाता है ? पहली बार में बीच में खड़े होना तथा दूसरी बार में खड़े न होने का क्या कारण है ?

**उत्तर :** खमासमणो द्वारा गुरु से विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना की जाती है। शिष्य के द्वारा तैतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना हो गयी हो, तो उसके लिए प्रतिक्रमण के प्रसंग से, गुरु से क्षमायाचना करता है। आशातना मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- खड़े-खड़े या बैठे-बैठे। इन दानों ही प्रकार की आशातनाओं की क्षमायाचना भी दो प्रकार से की जाती है। खड़े -खड़े की गयी आशातना की क्षमायाचना खमासमणो की पहली पाटी में खड़े होकर की जाती है। बैठे-बैठे की गयी अविनय अशातना की क्षमायाचना खमासमणो की दूसरी पाटी द्वारा बैठे-बैठे की जाती है।

**प्रश्न-15 :** हमारे पूर्वजों के नाम से जो दुकानें, व्यापार, मिलें, कारखाने, कृषि फार्म आदि चलते हैं। क्या उसकी क्रिया हमारे पूर्वजों को आती है ?

**उत्तर :** पूर्वजों ने अपने हाथ से दुकान, व्यापार आदि किया और उन वस्तुओं का स्वेच्छा से विधिपूर्वक त्याग नहीं किया हो, तो उन दुकान आदि में होनेवाली क्रियाओं का सम्बन्ध उन पूर्वजों की आत्माओं के साथ भी रहता है।

**प्रश्न-16 :** हमारे पूर्वजों के नाम से पौषधशाला, स्थानक, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छात्रावास, विद्यालय, धर्मादा पारमार्थिक ट्रस्ट आदि अनेक संस्थाएँ बनी हैं। वहाँ के विभिन्न शुभ कार्यों की क्रियाएँ क्या हमारे पूर्वजों को लगती हैं ?

**उत्तर :** पूर्वजों ने पौषधशाला आदि का निर्माण करवाया। ऐसे शुभ कार्य तभी सम्पादित होते हैं, जब उनका परिग्रह से मोह-ममत्व

हटता है और त्याग की भावना बनती है। यदि कदाचित् किसी की उन मकानों में भी आसक्ति रह गयी हो, तो उस आसक्ति से सम्बन्धित क्रियाएँ उनको भी लगती हैं। आसक्ति रहित किये गये पारमार्थिक कार्य से उन आत्माओं को महान पुण्यादि फल की प्राप्ति होती है। वे शुभ क्रियाएँ परलोक में भी लगती रहें- ऐसा कम सम्भव है, क्योंकि क्रियाओं का जन्म- जन्मान्तर सम्बन्ध ममत्व से होता है। किन्तु पारमार्थिक वस्तुओं को बनाते समय ही बनानेवालों ने ममत्व का त्याग कर दिया, इसलिए तत्क्षण ही उसको पुण्य, आत्म शुद्धि आदि लाभ प्राप्त हो जाता है।

**प्रश्न-17 :** बहुत से लोग तीर्थकरों के नाम से, कल- कारखाने, दुकानें, औषधालय, वाचनालय, भवन, ग्रन्थालय, नगर, बालमंदिर, छात्रावास, स्मृति भवन आदि अनेक संस्थाएँ चलाते हैं, जबकि तीर्थकर भगवान मोक्ष पधार गये हैं। ऐसी स्थिति में उनके नामों से चलनेवाली संस्थाओं की शुभ-अशुभ क्रियाएँ किनको लगती हैं ?

**उत्तर :** तीर्थकरों के नाम से किये जानेवाले शुभ या अशुभ कार्य की शुभ अशुभ क्रिया भी करनेवालों को मिलती है, तीर्थकर भगवान को नहीं, क्योंकि वे संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के त्यागी व सर्वथा मोह-माया रहित होते हैं। यहाँ तक कि उनका शरीर पर भी कोई ममत्व नहीं रहता, जिससे मृत्यु के बाद होनेवाली दाह संस्कार की क्रियाओं का सम्बन्ध भी उनके साथ नहीं होता। तब उनके नाम से अन्यो के द्वारा किये जानेवाले कार्य से उन महापुरुषों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं। अतः उनके नाम पर किये गये शुभाशुभ कार्य का सम्बन्ध करनेवाले कर्ता का ही होता है।

**प्रश्न-18 :** बहुत से मुनिराज एवं श्रावक विद्यालय, छात्रावास, भवन, स्थानक, पौषधशाला, उपासरा, ग्रन्थालय, नगर, निवृत्ति-निवास आदि संस्थाएँ बनाने की प्रेरणा देते हैं। क्या इनकी क्रियाएँ मुनिराजों-श्रावकों आदि प्रेरणा देनेवालों को आयेगी ? यदि क्रियाएँ उपदेश देनेवालों को अथवा उपदेश ग्रहणकर संस्थाएँ बनानेवालों को आयेगी, तो संयुक्त रूप से आयेगी अथवा किसी एक को क्रिया आयेगी ?

**उत्तर :** मुनिराज हिंसा से सम्बन्धित कार्य के तीन करण तीन योग से त्यागी होते हैं। वे स्वयं करते नहीं, न हिंसा दूसरों से करवाते हैं और न ही हिंसा करनेवालों को अच्छा समझते हैं मन-वचन-काया से।

अतः वे अपनी गृहीत मर्यादाओं के अनुसार आरम्भ-समारम्भ के कार्यों का उपदेश नहीं देते। उनका उपदेश तो दान, शील, तप, भावनामय साधु भाषा में होना चाहिए। अतः जो मुनिराज, साधु मर्यादाओं के अनुसार ज्ञान, दानादि का तटस्थ उपदेश देते हैं, तो ऐसे मुनिराजों को गृहस्थ द्वारा किये गये कार्य से कोई दोष नहीं लगता। परन्तु गृहस्थ अपना कर्तव्य समझकर ज्ञान, दान, आदि देने विषयक संस्था आदि का शुभ भाव से निर्माण करता है, तो गृहस्थ को शुभ भाव के अनुपात से पुण्य-बंधादि होता है। जो कुछ आरम्भ-समारम्भ संबंधित हिंसा होती है, वह उनके आरंभजा क्रिया से संबंधित रहती है। इस प्रकार की आरंभजा क्रिया का गृहस्थ के सर्वथा त्याग नहीं होता, मर्यादा हो सकती है।

किन्तु जो साधु, शास्त्र-प्रतिपादित मर्यादाओं को तोड़कर मकान बनवाने आदि आरंभ-समारंभ के कार्यों की प्रेरणा देता है, उस साधु को भी उस कार्य से पाप लगने का प्रसंग है एवं गृहीत मर्यादाओं में स्खलना भी (दोष) होती है।

साधु के उपदेश से निर्मित संस्था के प्रति साधु के मन में यदि आसक्ति भाव बन जाता है, तो उस संस्था में होनेवाली क्रिया उस साधु को भी लगती रहेगी। अतः साधु को अपनी मर्यादा में रहते हुए ही उपदेश आदि देना योग्य है। मर्यादा तोड़कर आरंभ-समारंभ के कार्यों में भाग लेना कतई योग्य नहीं रहता।

**प्रश्न-19 :** बहुत से आचार्यों मुनिराजों के नाम से अनेक संस्थाएँ जैसे पाठशाला, विद्यापीठ, परीक्षाबोर्ड, स्थानक, उपाश्रय, छात्रावास, वृद्धाश्रम, बैंक आदि संस्थाएँ चल रही हैं। उन विगत एवं वर्तमान आचार्यों, मुनिराजों को इनकी क्रियाएँ लगती हैं क्या ?

**उत्तर :** जिन-जिन व्यक्तियों (आचार्यादि) के नाम से कोई भी संस्था आदि गृहस्थ चलाता है और जिन संस्था आदि पर (आचार्यादि)

का नाम है, वे उन आरंभ-समारंभ आदि के कार्यों का अनुमोदन भी नहीं करते हों, तो उनके नाम से गृहस्थों द्वारा किये गये कार्यों की क्रियाओं का संबंध उन आचार्यादि से नहीं जुड़ता। किन्तु जो आचार्यादि अपने नाम से चलनेवाली संस्थाओं में होनेवाले आरंभ-समारंभ आदि क्रियाओं का कराना और प्रेरणा देना तो दूर, यदि अनुमोदन भी करते हैं, तो पाठशालादि संस्थाओं में होनेवाली क्रियाओं का संबंध उनके साथ जुड़ने से वे आचार्यादि भी उस पाप से संबद्ध होते हैं। साथ ही अपने व्रतों को भी दूषित करते हैं।

**प्रश्न-20 :** कायोत्सर्ग के अन्दर कितने लोगस्स का ध्यान करना, क्या मूल सूत्र में इसका उल्लेख है ?

**उत्तर :** मूल सूत्रों में लोगस्स का काउस्सग करना चाहिए, इसका उल्लेख नहीं होने से ही अनेक प्रकार के भेद दिखलायी देते हैं। उन सब को एकीकरण करने के लिए सम्वत् 1990 में अजमेर में वृहत् साधु सम्मेलन में तथा 2001 सादड़ी सम्मेलन में सर्वानुमति से प्रस्ताव पारित हुआ कि संवत्सरी को 20 लोगस्स, चौमासी को 12 लोगस्स, पक्खी को 8 लोगस्स और प्रतिदिन 4 लोगस्स का ध्यान करना।

सभी ने इसको मान्य किया। तदनुसार आज भी उसी अनुरूप लोगस्स का ध्यान किया जाना चाहिए, ताकि विभिन्नता में भी एकता के दर्शन हों। सर्वानुमति का वह प्रस्ताव निम्नानुसार है-

**“साधु-साध्वीयाँ मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, चौमासी, अने सम्वत्सरीनु एकज प्रतिक्रमण करवुं, बे नहीं अने कायोत्सर्ग देवसी रायसी ना चार लोगस्स, पक्खी ना आठ, चौमासिक ना 12 अने सम्वत्सरी ना 20 लोगस्स - आ प्रमाणे श्रावकों ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलन भल्लावण कर छै, आ ठेराव सर्वानुमतेपास करेल छै।”**

**प्रश्न-21 :** साध्वी खड़े-खड़े कायोत्सर्ग क्यों नहीं कर सकती ?

**उत्तर :** साध्वी को खड़े-खड़े काउस्सग करने का वृहत् कल्पसूत्र में निषेध है। खड़े-खड़े काउस्सग करने की निषिद्धता के पीछे मुख्य रूप से शील व्रत की सुरक्षा का प्रावधान रहा हुआ है। ऐसा वृहत् कल्पसूत्र के उद्देशक 5 सूत्र 23 से स्पष्ट होता है। प्रस्तुत उद्देशक में सूत्र

13 से लेकर 55 तक के सूत्रों में मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा रूप नियमों का विधान किया गया है। 23 वाँ सूत्र भी उसी शृंखला में है। अतः साध्वी जीवन की सुरक्षा हेतु साध्वी को वीतराग आज्ञानुसार खड़े-खड़े काउस्सब्ग नहीं करना चाहिए। साध्वी की तरह यह नियम श्राविका वर्ग के लिए भी उसी रूप में लागू होता है।

**प्रश्न 22 :** साध्वी को भिक्षाचर्या हेतु अथवा शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ स्थानक से बाहर अकेले क्यों नहीं जाना चाहिए ?

**उत्तर :** तीर्थंकर देवों का कथन त्रिकाल संबंधित होता है। साध्वी को अकेले स्थानक आदि से बाहर जाने का जो निषेध किया गया है, उसके पीछे साध्वी जीवन की सुरक्षा का मुख्य हेतु रहा है। साध्वी स्त्री पर्याय से होती है। स्त्री पर्याय पर मोह सम्बन्धी उपसर्ग भी अधिक आते हैं। पुरुष शरीर पर बलात्कार नहीं किया जा सकता, जबकि स्त्री पर्याय पर उसकी संभावना रहती है। अतः साध्वी के अकेले गृहस्थी के घर भिक्षा चर्या के लिए प्रवेश करने पर उस घर में कभी एकाकी पुरुष द्वारा अथवा कामुक पुरुष द्वारा अभद्र व्यवहार किया जा सकता है, जो साध्वी जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकता है तथा जिनशासन की भी हीलना निन्दा संभवित है। इसी प्रकार शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ साध्वी का एकाकी गमन भी योग्य नहीं रहता। उसका वृहत्कल्प सूत्र में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है। यथा-

**नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए**

**गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए**

**निक्खमित्त एवा पविसित्तए वा॥5॥6॥**

**नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए**

**बहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा**

**निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा॥5॥॥7॥**

अतः साध्वी को भिक्षादि के लिए एकाकी स्थानक से बाहर नहीं जाना चाहिए। कदाचित् तीन साध्वियाँ हों और दो का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो, तो वैसी विकट परिस्थिति में वह अकेली साध्वी एक



विश्वस्त बहिन के साथ भिक्षादि के लिए स्थानक आदि से बाहर निकल सकती है तथा गृहस्थ के घर में प्रवेश कर सकती है, पर एकाकी नहीं।

**प्रश्न-23 :** पक्खी आदि पर्व में दो प्रतिक्रमण करने का ज्ञातासूत्र के पाँचवें अध्ययन में वर्णन आया है। दो प्रतिक्रमण करने से विशुद्धि भी अधिक होने की संभावना है। अतः पक्खी आदि पर्व के दिवसों में दो प्रतिक्रमण क्यों नहीं करना चाहिए ?

**उत्तर :** आगमों में पक्खी आदि पर्व दिवसों पर कहीं भी दो प्रतिक्रमण का विधान नहीं है। ज्ञाताधर्म कथांग के पंचम अध्ययन में पंथक जी द्वारा दो प्रतिक्रमण का जो कथन किया जाता है, वह भी संगत नहीं है, क्योंकि ज्ञाता धर्म की प्राचीन प्रतियों में दो प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन (बाद की) कुछ प्रतियों में मूल पाठ प्रक्षिप्त लगता है। प्राचीन प्रति का वह मूल पाठ निम्नानुसार है-

**मूल-तएणं से पंथए सेलएणं एवं वुत्थे समाणे तत्थे तसिए करयल कट्टु एवं वयासी अहणं भंते पंथककय -काउसग्गे देवसियं पडिक्कंते चाउम्मासियं ख्रामेमाणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसेणं पाए संघट्टेमि तं खमंतुणं देवाणुप्पियाणायं भुज्जो-भुज्जो एवं करणयाएत्ति कट्टु-**

(संवत् 1761 की लिखी हुई टब्बा की प्रति ज्ञाता सूत्र अध्य. 5 से उद्धृत)

उक्त मूल पाठ में देवसी प्रतिक्रमण करके चातुर्मासिक क्षमापना हेतु पाठ आया है। इसमें अलग से दूसरा प्रतिक्रमण करने का उल्लेख ही नहीं है। अतः पंथक जी के नाम से दो प्रतिक्रमण सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात- प्रथम एवं अंतिम तीर्थकर के अतिरिक्त 22 तीर्थकरों के समय में प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य नहीं था। दोष लगने पर प्रतिक्रमण किया जाता था। अतः उनको दो प्रतिक्रमण करने का प्रसंग ही नहीं आता।

इसके अलावा व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि चिन्तन किया जाये, तो जिस समय जिसका शासन होता है, उसी के नियमोपनियम

पालन करने होते हैं। तदनुसार वर्तमान में प्रभु महावीर का शासन चल रहा है, अतः प्रभु महावीर के शासन में दो प्रतिक्रमण करने का यदि किसी आगम में उल्लेख आया हो, तो वह मान्य किया जा सकता है, पर किसी भी आगम में दो प्रतिक्रमणों का उल्लेख नहीं मिलता।

यद्यपि ज्ञाता धर्म के उपर्युक्त मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि पंथक जी ने दो प्रतिक्रमण नहीं किये थे, तथापि असत् कल्पना से कदाचित् यह मान भी लिया जाये कि पंथक जी ने दो प्रतिक्रमण किया, तो इतने मात्र से वह नियम वर्तमान साधकों के लिए लागू नहीं हो सकता, क्योंकि 22 वें तीर्थंकर के साधकों के नियमोपनियम अलग होते हैं और प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में विचरण करनेवाले साधकों के नियमों की मर्यादा जुदी होती है। अतः उपर्युक्त आगम एवं तर्क युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दो प्रतिक्रमण शास्त्र-सम्मत नहीं है।

इसके अतिरिक्त अजमेर सं. 1990 के वृहत् साधु सम्मेलन में सर्वानुमति से जो प्रस्ताव पास हुआ था, उस सम्मेलन में पंडित रत्न स्व. श्री समर्थमलजी म.सा. स्वयं उपस्थित थे। वहाँ प्रतिक्रमण सम्बन्धी जो निर्णय हुआ, वह इस प्रकार है-

साधु साध्वीओ ए मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, पक्खी, चोमासी अने संवत्सरीनुं एकज प्रतिक्रमण करवुं, बे नहीं। अने कायोत्सर्ग देवसी रायसी ना चार लोगस्स, पक्खीना आठ, चौमासिक ना बारह अने संवत्सरी ना बीस लोगस्स, आ प्रमाणे श्रावकों ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलन भलावण करे छै, आ ठेराव सर्वानुमते पास करेल है।

(मुनि सम्मेलन नो संक्षिप्त हेवाल)

तारीख 23/4/33 वार रविवार

तथा उसी प्रस्ताव को सं. 2009 सादड़ी सम्मेलन में भी पुनः सर्वानुमति से स्वीकार किया गया। उसकी हूबहू नकल इस प्रकार है।

“श्री वर्धमान स्था. जैन श्रमण संघ के साधु-साधवियों को देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी, संवत्सरी का एक ही प्रतिक्रमण करना

चाहिए और कायोत्सर्ग में देवसी-रायसी को 4, पक्खी को 8, चौमासी को 12 और संवत्सरी को 20 लोगस्स का ध्यान करना चाहिए।”

आगमों में पाँच प्रकार का व्यवहार बतलाया गया है। उसमें पाँचवाँ जीत व्यवहार बतलाया है। उसका तात्पर्य यह है कि जिसका स्पष्ट उल्लेख आगम आदि में उपलब्ध न हो, तो उस समय के प्रमुख आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत आदि मिलकर जो नियमोपानियम निधारित करें।

अतः सं. 1990 के एवं 2009 के सम्मेलन में प्रतिक्रमण में अथवा अन्य जो निर्णय हुए, उसे जीत व्यवहार के अन्तर्गत मानते हुए वर्तमान साधकों को उसी अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिए।

दो प्रतिक्रमण करने से विशुद्धि का जो तर्क दिया गया है, वह भी युक्तिपूर्ण नहीं है। अतिचारों की आलोचना, निंदा, गर्हा आदि शुद्ध मन से एक बार भी कर लेने से शुद्धिकरण होना संभावित है। यदि दो बार करने से अधिक शुद्धि का प्रसंग हो, तो प्रश्न होगा कि तीन या चार बार क्यों नहीं किया जाये ?

किन्तु तीन या चार बार करना दो प्रतिक्रमण से विशुद्धि माननेवाले पक्ष को भी स्वीकार नहीं होगा तथा प्रतिक्रमण का समय एक मुहूर्त का बताया गया है।

एक मुहूर्त से अधिक समय लगने से अतिचार लगने की संभावना रहती है, जो कि दो प्रतिक्रमण करने पर स्वाभाविक है।

अतः उपर्युक्त आगम संगत तर्क-युक्त विवेचन से यह भली-भाँति सूर्यालोकवत् स्पष्ट हो जाता है कि पक्खी आदि पर्व के दिनों में दो प्रतिक्रमण करना शास्त्र-सम्मत नहीं है।

**प्रश्न-24 :** स्थानकवासी समाज में “**इच्छामि खमासमणो**” के पाठ से वन्दना क्यों नहीं की जाती ? जबकि यह उत्कृष्ट वन्दन माना गया है।

**उत्तर :** स्थानकवासी समाज में ‘**इच्छामि खमासमणो**’ के पाठ से वन्दन किया जाता है, पर हर समय नहीं, क्योंकि आगमों में सामान्यतया वन्दन तिक्खुतो के पाठ से होने का चरितानुवाद विपुल

मात्रा में उपलब्ध है। अतः सामान्य रूप से जब भी वन्दन करने का प्रसंग आता है, तब तिक्रुतो के पाठ से ही वन्दना की जाती है।

“इच्छामि खमासमणो” के पाठ से प्रतिक्रमण के समय तृतीय वन्दना नामक आवश्यक में एवं उसके पश्चात् भी की जाती है। अतएव ‘इच्छामि खमासमणो’ के पाठ से वन्दन करना राजमार्ग नहीं, किन्तु विशिष्ट प्रसंग का वन्दन है। तिक्रुतो के पाठ से वन्दन राजमार्ग है और वह विशिष्ट वन्दन के अतिरिक्त समय में यथास्थान होता है।

**प्रश्न-25 :** क्या आचार्य पदवी जैन कुल में जन्मे साधु को ही मिलती है ? अगर हाँ, तो क्यों ? क्या तीर्थंकर सभी जैन थे ?

**उत्तर :** वर्तमान प्रचलित जातीय दृष्टि से आचार्य पद के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जैन कुल का ही हो। जैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी हो सकते हैं। आचार्य पद, जो नमस्कार महामंत्र के तृतीय पद में गृहीत है, उस पद के लिए यह आवश्यक है कि आचार्य पद जिसको दिया जाये, वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न आदि होना चाहिए।

वैसे भगवान महावीर के पाठ पर प्रथम उत्तराधिकारी आचार्य श्री सुधर्मा स्वामी ब्राह्मण थे। द्वितीय उत्तराधिकारी वैश्य श्री जम्बू स्वामी थे। तृतीय आचार्य क्षत्रिय श्री प्रभव स्वामी थे। अतः आचार्य पद की योग्यता एवं जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न आदि गुणों से युक्त किसी भी वंश में उत्पन्न व्यक्ति को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

सभी तीर्थंकर, तीर्थंकर अवस्था के पूर्व जैन ही थे। ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। भगवान ऋषभदेव के पूर्व कोई जातीय बन्धन नहीं था। श्री ऋषभदेव भगवान ने जन समुदाय को कर्मभूमि के कर्तव्यों से सम्पन्न बनाया। उसके पश्चात् वर्ण व्यवस्था का सिलसिला चालू हुआ।

**प्रश्न-26 :** गौतम स्वामी भगवान की आज्ञा लेकर मृगापुत्र को देखने घर पहुँचे और महारानी के साथ तलघर के अन्दर गये। उस वक्त उनके साथ और कौन थे ? वर्णन तो ऐसा सुनने में आया कि रानी के साथ गौतम स्वामी गये, तो क्या साथ में साक्षी रूप में भाई नहीं था ?

**उत्तर :** साधु चर्या के वर्णन में भगवान ने बतला दिया कि

अकेला साधु अकेली बहिन व साध्वी से बिना भाई की साक्षी से वार्तालाप आदि न करे।

अब यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक प्रासंगिक कथन में उसका उल्लेख किया ही जाये। वह साधु चर्या के अनुरूप स्वयं को जान लेना चाहिए। गौतम स्वामी स्वयं संयमी मर्यादाओं में पूर्ण सर्तक थे तथा अतिशय ज्ञान सम्पन्न थे। अतः साथ में भाई साक्षी रूप में हो सकता है, क्योंकि महल में कुब्जक दास (सेवक) इतस्ततः घूमते ही रहते थे।

दूसरी बात यह है कि मृगा लोढ़ा को बहुत भूख लगती थी। अतः उसके खाने के लिए बहुत सामान ले जाना होता था, जिसको रानी कैसे ले जा सकती है, जबकि रानी को, नौकर चाकर गिलास को भी इधर-उधर नहीं रखने देते। तब भोजन से भरी हुई गाड़ी को चलानेवाला कोई व्यक्ति, जो कि रानी के साथ में छाया की तरह रहता हुआ सेवा करता हो, उसका साथ में होना संभव है, अतः एकाकी रानी का तो कतई प्रसंग उपस्थित नहीं होता।

जैसे राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री के विदेश गमन के प्रसंग से व्यवहार में यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री विदेश गये हैं। उस कथन में जो राष्ट्रपति के विदेश गमन का कहा गया है, तो क्या राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री अकेले विदेश गये? नहीं, यह संभव नहीं होता। उनके साथ उनका स्टाफ अवश्य होता है। उन सब का कथन राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री के कथन में अनुगर्भित हो जाता है, वैसे ही महारानी के कथन से उनके सहचर रूप दास-दासी का संगम हो जाता है।

**प्रश्न-27 :** एक दिन के दीक्षित साधु को पचास साल की भी दीक्षिता साध्वी वन्दना क्यों करती हैं ? ज्येष्ठ शब्द के अलावा और भी कोई प्रमाण है क्या ?

**उत्तर :** आगम वाक्य गहनतम अर्थ से परिपूर्ण होता है। यह आवश्यक नहीं कि एक ही विषय के अनेक प्रमाण शास्त्रकार दें। फिर भी दीक्षा-ज्येष्ठ के अतिरिक्त अन्य प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि स्त्रीवेद का बंध दूसरे गुणस्थान तक होता है, जबकि पुरुष वेद का बंध नौवें गुणस्थान तक ही सकता है। गुणस्थान की दृष्टि से दूसरे गुणस्थान की

अपेक्षा नवम गुणस्थान में विशुद्धि अत्यधिक होती है। अतः गुणस्थान की अपेक्षा भी पुरुष ज्येष्ठ सिद्ध होता है।

एक बात यह भी है कि पुरुष वेद की काम वासना तृणाग्नि के समान शीघ्र ही उत्पन्न होकर पूर्ण हो जाती है, जबकि स्त्रीवेद की करीषाग्नि के समान बहुत समय तक चलती रहती है। इससे भी पुरुष वेद की उत्कृष्टता द्योतित होती है, क्योंकि पुरुष वेद में मोह की स्वल्पता होती है। जिसका मोह स्वल्प होता है, उसको गुणों की दृष्टि से बड़ा माना जाता है। इसी पुरुष वेद की प्रधानता के परिणामस्वरूप पूर्व जन्म में पुरुष वेद का जो कर्म संचय हुआ, उसी का प्रतीक वर्तमान का पुरुष शरीर है। अतः आगमिक दृष्टि एवं गुणों की अपेक्षा से पुरुष की ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी पुरुष पद से ज्येष्ठ माना जाता है। जैसे- एक पुत्र की आयु 50 वर्ष की है और पुत्रवधू की आयु 45 वर्ष की है। पुत्रवधू ने स्वल्पवय से ही धर्मध्यान आदि श्राविका के गुणों को जीवन में उतार रखा है। 30 वर्ष की अवस्था में सजोड़े ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है। उसके स्वसुर ने दूसरी शादी की, जिसके साथ शादी की, वह 18 वर्ष की कन्या है। धर्मध्यान तो दूर रहा- लेकिन मानवीय संस्कार भी पूरे नहीं हैं। वैसी उस 18 वर्षीय सास को वह 45 वर्षीय गुणवान पुत्रवधू नमस्कार करती है, क्योंकि उस कन्या का पद सास का है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति पद पर 35 वर्ष का नवयुवक हो, तो वह सबसे बड़ा एवं सबका आदरणीय होगा। यह गरिमा उसके पद के साथ है। इसी प्रकार पुरुष एक दिन का भी दीक्षित हो, फिर भी उपरोक्त प्रमाणों के कारण तथा पुरुष-पद की ज्येष्ठता से, चाहे 50 वर्षीय प्रवर्जित साध्वी भी क्यों न हो, वह साध्वी उस साधु को वन्दन करती है। यह सब पूर्व कर्मोपार्जित पिण्ड (शरीर) को लेकर कथन है। जहाँ पिण्ड रूप शरीर गौण है। भाव प्रधान है, वहाँ भावों की दृष्टि से पाँचवें भाव वन्दन में सभी सब को वन्दन करते हैं।

**प्रश्न-28 :** आचार्य श्री को 1008, संतों को 1007 एवं साध्वी को 1005 क्यों लगाया जाता है ?

**उत्तर :** तीर्थकर देव चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। पर उस चतुर्विध संघ की सारणा-वारणा करने का उत्तरदायित्व आचार्य पर आ जाता है। पूर्व के आचार्य, पद के योग्य साधु को चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्य पद पर आरूढ़ कर देते हैं। इस प्रकार आचार्य परम्परा चलती रहती है। जिसको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है, उसी में चतुर्विध संघ का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता होती है तथा तीर्थकरों द्वारा प्रदत्त श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर होता है।

यद्यपि आचार्य तीर्थकर के सदृश नहीं होते हुए भी उनको उपचार से तीर्थकर के समान कहा जाता है। “**यथा: तित्थयरसमो सूरी**” वैसे ही तीर्थकरों में 1008 शुभ लक्षण भी होते हैं। जैसा कि कहा है-

**“अट्ठसहस्स लक्खण धरो”**

1008 लक्षण, जो तीर्थकरों में होते हैं, उनका उपचार से आचार्य में भी समावेश किया जाता है। जैसे कि उपचार से आचार्य को तीर्थकर के समान कहा गया है। अतः उक्त विधि से आचार्य के 1008 का विशेषण लगाया जाता है। आचार्य की उपेक्षा मुनियों के कुछ कम होना चाहिए तथा मुनियों से साधवियों को कम लगना चाहिए। अतः परम्परा से मुनियों के 1007 एवं महासती के 1005 विशेषण लगाया जाता है।

**प्रश्न-29 :** इलेक्ट्रॉनिक घड़ीवाले द्वारा चरण स्पर्श करने पर क्या करना ? उसे असुझती मानना या नहीं ? मानना, तो क्या प्रतिदिन प्रायश्चित लेना ?

**उत्तर :** इलेक्ट्रॉनिक घड़ीवाला व्यक्ति चरण स्पर्श करे, और संतों को ज्ञात हो जाये, तो उसे ध्यान दिला देना चाहिए कि इलेक्ट्रॉनिक घड़ी रहते हुए चरण स्पर्श नहीं करे। इलेक्ट्रॉनिक घड़ी जिस समय चल रही हो, उस समय उसे असुझता मानना चाहिए।

इलेक्ट्रॉनिक घड़ी चालू रहते हुए यदि चरण स्पर्श किया हो, तो उसके ज्ञात होने पर प्रायश्चित लेना चाहिए।

**प्रश्न-30 :** विद्युत (करन्ट) मात्र को सचित कैसे माना जाये,

क्योंकि उसमें तो ज्योति नहीं होती है, जो कि अग्निकाय का लक्षण है।

**उत्तर :** विद्युत का जो प्रवाह प्रवाहित है, उसे विद्युत का प्रवाह कहा जाता है, उसमें संघर्ष समुद्धिए अवस्था विद्यमान है। उसको कोई छूता है, तो उसका झटका लगता है। यदा-कदा उसका प्राणान्त भी संभव है। अतः विद्युत सम्बन्धित धर्म विद्यमान है। पर प्रकाशित होने का माध्यम जहाँ होता है, वहीं उसका प्रकाश प्रकट रूप से ज्ञात होता है। बीच में प्रकट होने का माध्यम नहीं होने से वह विद्युत का प्रकाश नहीं दिखता। किन्तु इतने मात्र से विद्युत प्रवाह नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते हैं।

**प्रश्न-31 :** बैटरी सेल को अचित माना जाता है, जबकि उसमें मसाला (करन्ट) होता है, तो फिर सेल से चलनेवाले यंत्र, जिनमें बल्ब आदि नहीं जलते हैं, सचित कैसे होंगे ?

**उत्तर :** बैटरी के सेल में मसाला होता है, पर विद्युत प्रवाह की तरह सतत प्रवाहित नहीं होने से करन्ट कैसे कहा जायेगा, बैटरी चालू करने पर ही करन्ट का प्रवाह होता है, बन्द होने पर संघर्ष रूप अवस्था न होने से विद्युत प्रवाह रुक जाता है अतः संघट्टा नहीं लगता, पर बल्ब के अभाव में भी विद्युत प्रवाह रूप करन्ट चालू हो, तो संस्पर्श नहीं किया जा सकता।

**प्रश्न-32 :** पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, सचित, अचित और मिश्र भी होती है। फिर लाउडस्पीकर उपयोग में लेनेवाले किस अपेक्षा से लेते हैं ?

**उत्तर :** लाउडस्पीकर उपयोग करनेवाले प्रायः सचित तेउ का प्रयोग मानकर उपयोग करते हैं, अचित एवं मिश्र मानकर नहीं, क्योंकि यदि अचित मानकर उपयोग करें, तो फिर दण्ड किस दोष का ग्रहण करते हैं। लाउडस्पीकर में बोलने के फलस्वरूप दण्ड स्वीकार करते हैं। दण्ड दोष लगने पर लिया जाता है। अतः सचित तेउकाय का प्रयोग मानकर उपयोग करते हैं।

**प्रश्न-33 :** उपाचार्य श्री 1008 श्री गणेशीलालजी म.सा. ने श्रमण संघ में रहते हुए ध्वनि वर्धक यंत्र में कोई बोले, तो क्या कोई दण्ड



का विधान किया ?

**उत्तर :** सभी उपाध्याय एवं मुनिवरों की अनुमति को हूबहू पंक्तियों का उल्लेख करते हुए उपाचार्य श्री जी ने निर्णय दिया कि भीनासर सम्मेलन में एतद् विषयक कृत प्रस्ताव में मुनिधर्म का अपवादादि का निर्णय न हो जाये, तब तक यदि कोई ध्वनि वर्धक यंत्र में बोलेगा, तो वह स्वच्छन्द समझा जायेगा और उस स्वच्छन्दता का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त दिया जायेगा।

**प्रश्न-34 :** संत सती वर्ग माइक पर क्यों नहीं बोल सकते ? जिसके लिए निम्न तर्क है-

1. हरी लिलोतरी पर संत वर्ग का चलना निषेध है, किन्तु दिशा, मैदान आदि जाते हुए या अन्य कार्य से जाते हुए हरी लिलोतरी का मैदान हो, उसमें एक संकड़ी-सी पगडण्डी हो, सामने से भागती हुई गाय आ रही है, तो पगडण्डी से हटकर संत-सती वर्ग को भी हरी घास पर कदम रखना पड़ता है, जो कि निषिद्ध है, किन्तु अपवाद स्वरूप रखना पड़ता है, तो अपवाद स्वरूप माइक का प्रयोग क्यों नहीं मान्य हो ?

2. दवाई ऑपरेशन वगैरह भी निषेध है, किन्तु उसका प्रयोग-उपयोग अपवाद स्वरूप होता है, फिर माइक क्यों नहीं ?

3. चश्मे का भी निषेध है, किन्तु आँख की कमजोरी को दूर करने के लिए अपवाद स्वरूप उपयोग होता है, फिर विशाल समुदाय के कान तक नहीं पहुँचनेवाली आवाज को उन तक पहुँचाने के लिए माइक का प्रयोग क्यों नहीं ?

4. संतों के प्रवचन श्रवण हेतु श्रद्धालु जन काफी दूरी तय करके आते हैं, किन्तु उन्हें मनोरथ सिद्धि नहीं होती, इससे खीजकर वे दुःखी होते हैं या युवा वर्ग अश्रव्य प्रवचन स्थल को छोड़कर सिनेमा या अन्य स्थल की ओर भी जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में क्या संत-सती वर्ग को आवागमन की व्यर्थता के कारण दोष का भागी नहीं होना पड़ेगा ? क्या सिनेमा आदि स्थलों पर गये युवक के हीन कर्मों में संत-सती वर्ग

का निमित्त नहीं कहलायेगा ?

**उत्तर :** संकड़ी पगडण्डी पर चलते हुए सामने गाय आदि के आ जाने पर हरी लिलोतरी पर चलने का, दवा, ऑपरेशन आदि चिकित्सा लेने का, चश्मे का नम्बर निकलवाने एवं बनाने आदि के जो प्रसंग है, वह अपवाद स्वरूप मार्ग हैं। ध्वनिवर्धक यंत्र के साथ इन तर्कों का सम्बन्ध जोड़ने से यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपवाद तथा उत्सर्ग को समझाजाये।

**उत्सर्ग :-** राजमार्ग को उत्सर्ग कहते हैं, जैसे पंच महाव्रत, तीन गुप्ति आदि।

**अपवाद :-** “उत्सर्गात् परिभ्रष्टस्य अपवादगमनं” उत्सर्ग मार्ग से जब गिरने का प्रसंग आता है, तब अपवाद मार्ग में प्रवृत्ति-गमन होता है।

जैसे थोड़ी-थोड़ी वर्षा बरस रही हो, तो उसमें भिक्षाचर्या के लिए सन्त-सती नहीं जा सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है, पर इसका अपवाद मार्ग भगवान ने बतलाया कि चाहे जोरदार वर्षा बरस रही हो, किन्तु लघु शंका या दीर्घ शंका आ जाये, तो उस जोरदार वर्षा में भी उसके निवारणार्थ प्रवृत्ति/गमन करे।

उत्सर्ग और अपवाद एक ही मार्ग के लिए लागू होते हैं। संयम मार्ग की आराधना का जो राजमार्ग है- वह उत्सर्ग है, पर वही संयमी जीवन जब खतरे में पड़ता है, तब उसके लिए अपवाद में गमन होता है।

प्रश्न में जो भी तर्क उपस्थित किया गया है, वह सब संयमी जीवन के खतरे में पड़ने पर अपवाद मार्ग में ग्रहण करने का है।

श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलना उस अपवाद में गृहीत नहीं होता, क्योंकि कदाचित् कोई साधक नहीं बोलकर मौन रखता है, तो उसके संयमी जीवन को कोई खतरा नहीं आता, बल्कि मौन साधना से संयमी जीवन में निखार आता है। किन्तु यदि अस्वस्थ है और उपचार नहीं करवाता, तो उससे संयमी जीवन को खतरा पैदा हो जाना सम्भव है। साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य उपदेश देने

का नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साधना करना है। आत्म-साधना करते हुए अपनी मर्यादाओं में रहता हुआ जितना परोपकार, उपदेश आदि कर सकता हो, करे, पर महाव्रत में दोष लगाकर नहीं। अतः उत्सर्ग में तो श्रोताओं को सुनाने की दृष्टि से ध्वनि वर्धक यंत्र का प्रयोग वाँछनीय हो ही नहीं सकता, किन्तु अधिक व्यक्तियों को सुनाने के लिए अपवाद मार्ग भी लागू नहीं होता।

नेत्र की रोशनी के बिना संयम साधना भली-भाँति सध नहीं सकती। जिससे संयमी जीवन खतरे में पड़ सकता है। अतएव संयम की सुरक्षा हेतु चश्मे का अपवाद बनता है, न कि माइक का।

चौथे तर्क पर भी आप चिन्तन करें, मान लीजिए आपने सामायिक ले ररखी है अथवा जैन धर्म को सत्य यथार्थ मानकर चल रहे हैं। एक व्यक्ति आपके पास आता है और वह आपको कहता है कि आप सामायिक छोड़ दीजिए अथवा जैन धर्म को अयथार्थ मानिए, नहीं तो मैं चोरी करूँगा, व्यभिचार करूँगा आदि, उस समय आप क्या करेंगे ?

क्या आप सामायिक छोड़ देंगे अथवा जैन धर्म को असत्य अयथार्थ स्वीकार करेंगे ? सम्भव है आपका उत्तर रहेगा, नहीं। तब आपके सामायिक नहीं छोड़ने से अथवा जैन धर्म को असत्य/अयथार्थ नहीं कहने से वह अन्य व्यक्ति यदि चोरी करता है, व्यभिचार सेवन करता है, तो क्या उसका पाप भी आपको लगेगा ? नहीं! उसका पाप आपको नहीं लगेगा, क्योंकि आपकी भावना यह नहीं है कि वह व्यक्ति चोरी अथवा व्यभिचार का सेवन करे, अतः जब आपकी भावना नहीं है, तो आपको पाप कैसे लग सकता है ?

इसी प्रकार सन्त-सती वर्ग के स्थान से निकलकर कोई व्यक्ति सिनेमा आदि स्थलों पर चला जाता है, तो उसका पाप सन्त-सती वर्ग को नहीं लगता और न ही वे उसके निमित्त ही माने जा सकते हैं। यदि कदाचित् यह माना जाये कि सन्त-सती वर्ग के ध्वनि यंत्र में नहीं बोलने से युवाओं का सिनेमा आदि स्थलों पर जाने में सन्त-सती वर्ग निमित्त हैं, तो कभी ऐसा भी प्रसंग आ सकता है कि कोई सन्त-

महात्माओं को कह सकता है - आप महाव्रत छोड़ दीजिए अन्यथा मैं कत्लखाना खोलकर अनेक पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करूँगा, तो क्या वैसी स्थिति में सन्त-सती वर्ग को महाव्रत छोड़कर गृहस्थ बन जाना चाहिए ? नहीं, ऐसे प्रसंगों पर सामनेवाले व्यक्ति को समझाया जा सकता है। कदाचित् समझाने पर भी वह नहीं माने, तो उसके कृत्यों का दुष्परिणाम उसी को भोगना पड़ता है, न कि सन्तों को। वैसे ही सन्त-सती वर्ग के माइक पर नहीं बोलने से कोई व्यक्ति अन्यथा प्रवृत्ति करता है, तो उसका पाप दोष भी सन्त-सती वर्ग को नहीं लग सकता।

**प्रश्न-35 :** जब श्रमण वर्ग के प्रवचन आदि की पुस्तकें प्रेस में छपायी जाती हैं, तो प्रवचन आदि टेप क्यों नहीं कर सकते, क्योंकि आखिर प्रेस भी तो बिजली से ही चलती है, फिर टेप करने में क्या आपत्ति है ?

**उत्तर :** सन्त-सती वर्ग के व्याख्यान स्थल एवं ठहरने के स्थल में एकेन्द्रिय जीव यथा- बादर तेउकाय, कञ्ची वनस्पति, अनाज एवं सचित आदि पदार्थ कुछ भी बिना ताले के खुले पड़े हुए हों तो इन सचित पदार्थों के रहते हुए सन्त-सती वर्ग को सुखे-समाधे वहाँ ठहरना नहीं कल्पता। सचित पदार्थों का उपमर्दन भी वहाँ नहीं होना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने पाँच अभिगम का निर्देश दिया है। सचित-अचित के विवेक सम्बन्धी उन अभिगमों का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है- फूल, माला, इलायची आदि सचित पदार्थ सहित श्रावक समवसरण में प्रवेश नहीं करे। उसका परित्याग करके समवसरण में श्रावकगण के प्रवेश की विधि है, क्योंकि उन लोगों के द्वारा भगवान व सन्तों के चरण स्पर्श न करने पर भी उस स्थल पर उन एकेन्द्रिय प्राणियों का भी उपमर्दन शास्त्रकारों ने योग्य नहीं माना, इसलिए उसका निषेध किया। सम्राटादि चतुरंगी सेना सजा करके दर्शनार्थ पहुँचते उसमें हिंसादि कार्य होते थे, पर ये समवसरण के बाहर ही। सचितादि पदार्थ वे बाहर ही छोड़ देते थे।

तीर्थकर प्रभु यह जानते थे कि ये सब दर्शनार्थ ही आ रहे हैं। इनके द्वारा आरम्भजा हिंसा भी हो रही है, फिर भी वह समवसरण की

सीमा के अन्तर्गत न होने से तीर्थकर देव ने उसका निषेध नहीं किया।

व्याख्यान स्थल पर सन्तों के समीप में बैठकर निर्जीव साधनों से कोई व्याख्यान नोट करे या प्रश्नोत्तर आदि का आलेखन करे, उसके लिए यह निषेध नहीं है, किन्तु व्याख्यान स्थल पर एवं सन्तों के समक्ष विद्युत आदि साधनों से टेप आदि करना निषिद्ध है, क्योंकि विद्युत-बादर तेज काय के जीवन हैं। वह असंख्य जीवों का पिण्ड है। इससे षट्काय जीवों का उपमर्दन हो जाता है। अतएव अहिंसा की परिपालना करनेवालेसाधक के सामने इस प्रकार का सावद्य कार्य नहीं हो सकता। साधु की समीपता एवं व्याख्यान स्थल से दूर बाहर जाने के पश्चात् श्रावक निरवद्य साधनों से, आलेखनकर पश्चात् टेप करे या प्रिण्ट, यह उस पर निर्भर है, साधु का सम्बन्ध उससे नहीं जुड़ता।

यदि साधु अपनी सीमा से सावद्य कार्यों में, साधु मर्यादा को छोड़कर भाग लेता हो, प्रूप संशोधन आदि कार्य स्वयं के हाथों से सम्पन्न करता हो, तो उसमें दोष की सम्भावना रहती है। गृहस्थ ने जो लिखा है, वह शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध है या अशुद्ध ? यह साधु बता सकता है। शुद्धि-अशुद्धि बता देने से साधु की सीमा (धर्मस्थान एवं व्याख्यान स्थल) से दूर बाहर होनेवाला आरम्भ को दोष साधु को नहीं लग सकता, जैसा कि समवसरण के बाहर का आरम्भ भगवान को नहीं लगता। अतएव साधु के समक्ष या व्याख्यान में आरम्भ जनित साधनों का प्रयोग योग्य नहीं।

**प्रश्न-36 :** बावीसवें तीर्थकर के साधु औद्देशिक आहार ले सकते हैं ?

**उत्तर :** भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के साधुओं के अतिरिक्त तीर्थकरों के समय के साधुओं को औद्देशिक आहार ग्रहण करने का निषेध नहीं था अर्थात् औद्देशिक आहार आवश्यकतानुसार ग्रहण कर सकते हैं।

**प्रश्न-37 :** आजकल संत-सतियाँजी का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्रकाशित होने लगा है। जो साधु-साध्वी लाउडस्पीकर में तो

इसलिए नहीं बोलते कि उन्हें अन्निकाय के जीवों का आरम्भ लगेगा, तो क्या उन्हें पुस्तक-प्रकाशन करवाने से होनेवाली हिंसा का पाप नहीं लेगगा ?

**उत्तर :** प्रश्न युगानुकूल है और सभी के लिए समझने जैसा है। साधु के लिए पंच-महाव्रतों का पालन सर्वप्रथम अनिवार्य है। साधक संयमी-मर्यादाओं में रहता हुआ ही जन- जागरण कर सकता है। साधु मर्यादा से विपरीत कार्य करना साधु के लिए सर्वथा अकल्पनीय है।

लाउडस्पीकर का उपयोग करने से इससे होनेवाली हिंसा का साक्षात् सम्बन्ध उपयोग करनेवाले से होता है। इसलिए महाव्रत धारी संत-सती वर्ग को उसका उपयोग करना उचित नहीं है।

जहाँ तक साहित्य प्रकाशन का प्रश्न है, प्रकाशन कार्य में भी इलेक्ट्रिक अन्निकाय आदि जीवों की हिंसा होती है, अतः साधु प्रकाशन के कार्यों में भाग नहीं ले सकता। साहित्य प्रकाशन ही क्यों ? साधु को किसी भी सावद्य प्रवृत्ति में भाग नहीं लेना चाहिए।

अभी आगमों की व्याख्या लिखवाने का जो काम चल रहा है, वह मुख्य रूप से संत-सती वर्ग के आग्रह पर प्रारम्भ करवाया गया है क्योंकि साधु-साध्वी वर्ग जब आगमों का अध्ययन कर रहे थे, उस समय राणावास चातुर्मास में जब मैंने सूत्र संस्पर्शी व्याख्याएँ उन्हें समझायीं, तो उन सभी का यह आग्रह रहा कि आप इन्हें लिखवा दीजिए, क्योंकि एक तो हमारी बुद्धि इतनी तेज नहीं कि जैसा आप कहें वैसा एक ही बार में अवधारण कर लें। दूसरी बात हमें समझाना ही पर्याप्त नहीं होगा, साधु-साध्वी का विशाल समूह है, उन्हें भी तो समझना है और वे सब आपश्री से समझें- यह संभव नहीं है, क्योंकि न तो आपके पास इतना समय है और न ही सभी को आपकी सन्निधि का संयोग ही मिल पाता है।

साधु-साध्वी वर्ग की इस भावना को लक्ष्य में रखकर शास्त्र लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया, जो अभी भी गतिशील है। इसका ध्येय यह है कि चतुर्विध संघ की अवधारणा सम्यक् रूप से हो।

आगम विवेचना के अतिरिक्त जो लेखन हो रहा है, इसमें भी लक्ष्य चतुर्विध संघ की सम्यक् अवधारणा का रहा हुआ है। कदाचित् किसी को यह शंका उठती हो कि संत-सती वर्ग के नाम से उसका प्रकाशन क्यों हो, तो उसका समाधान यह है कि जो कार्य जिसने किया है, उस पर यदि उसका नाम न आकर अन्य किसी का नाम आता है, तो वह उपयुक्त नहीं है।

अतः साधनावस्था में चलते हुए साधक को जो अनुभूतियाँ होती हैं अथवा जो चिन्तन उभरते हैं, उनकी वे लिपिबद्ध कर लेते हैं। वे मौलिक चिन्तन गद्य एवं पद्य उभय रूप में हो सकते हैं। इनका जब संग्रह हो जाता है, तो वे अनुशास्ता को समर्पित कर देते हैं। अनुशास्ता के माध्यम से कई संत-सती भी उनसे लाभान्वित होते रहते हैं, किन्तु साधु जीवन में जब आवश्यकता से अधिक पुस्तकादि सामग्री, जिनकी अब आवश्यकता परिज्ञात नहीं होती, तब उस सामग्री को अपनी नेश्राय छोड़कर व्यवस्थित स्थान पर प्रस्थापित कर दी (परठ दी) जाती है, ताकि ज्ञान का साधन होने से कोई भी जिज्ञासु लाभ उठाना चाहे, तो उठा सके। जैसा कि पूर्व के आचार्यों आदि द्वारा आगमों पर लिखित टीका सामग्री व्यवस्थित स्थान पर सुरक्षित होने से वर्तमान के जिज्ञासु उसका लाभ उठाते हैं।

हाँ, इस प्रस्थापित सामग्री में से श्रावक वर्ग उस समय किस संग्रह की उपयोगिता महसूस करे और उसे किस रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करे, यह उनका कार्य क्षेत्र है। इसमें संत-सती वर्ग को भाग नहीं लेना चाहिए। उसमें यदि संत-सती वर्ग भाग लेते हैं, तो वे जितना भाग लेंगे, उतना दोष व सम्बन्ध उनके साथ जुड़ सकता है, पर यह केवल प्रकाशन से ही सम्बन्धित नहीं है।

प्रकाशन के अतिरिक्त भी साधु-साध्वी अगर किसी भी सावद्य कार्य में भाग लेते हैं, तो उस कार्य में होनेवाली सावद्य क्रिया का सम्बन्ध उन संत-सती वर्ग के साथ अवश्य संयुक्त होता है। पर जो सावद्य कार्यों में भाग नहीं लेते हैं, उनके साथ सावद्य क्रिया का संभाग

संयुक्त नहीं होता।

कई लोगों का यह तर्क रहता है कि जब आपको यह ज्ञात है कि यह श्रावक जो प्रतिलिपि उतार रहा है, वह उसका प्रकाशन करेगा, तो फिर आप उसे मना क्यों नहीं कर देते ? यदि आप मना नहीं करते हैं, तो क्या आपको अनुमोदन दोष नहीं लगेगा ?

नहीं। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टिकोण यह है कि उसकी सीमा के बाहर जिस कार्य में पुण्य भी हो, पाप भी हो, हिंसा भी हो, रक्षा भी हो, तो ऐसे कार्यों में साधु हॉ या ना कुछ नहीं कह सकता।

जैसा कि राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णन आता है कि प्रदेशी राजा जब केशी अनगार से प्रतिबोधित होकर श्रावक बनता है, तब केशी अनगार उनको कहते हैं कि अब तुम रमणीक बन गये हो, वापस अरमणीक मत बनना। तब प्रदेशी राजा ने निवेदन किया-

भगवन्! अब तक मैं राज्य की आमदनी के तीन ही भाग करता था, अब चार भाग करूँगा। उसमें से एक भाग से बहुत बड़ी भोजनशाला चलाऊँगा। जिससे दीन-हीन आदि को भोजन मिल सके।

यह सुनकर केशी अनगार कुछ नहीं बोले। उन्होंने यह नहीं कहा कि अरे तुम यह क्या कर रहे हो ? इतने बड़े भोजन-शाला चलाने से न मालूम कितने जीव मरेंगे, क्योंकि ऐसा कहने पर भोजन करनेवाले दीन-हीन जीवों को अन्तराय लगती है, जो योग्य नहीं है और यह भी नहीं कहा कि तुम्हें भोजनशाला चलानी चाहिए, क्योंकि ऐसा कहने पर भोजन पकाने में होनेवाले जीवों की हिंसा का आरम्भ कहनेवाले को भी लगता है। अतः केशी अनगार मौन रहे। वैसे ही कोई यह कहे कि मुझे पानी का प्याऊ लगानी है, तो साधु उस पर भी हॉ-ना कुछ नहीं कहेगा। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि कोई गृहस्थ संतों की नेश्राय से विलग की हुई सामग्री में से किसी की प्रतिलिपि उतारकर उसे जनहितार्थ उपयोग में लेता है, तो साधु उसे शास्त्रीय दृष्टि ये हॉ या ना कुछ नहीं कह सकता। हॉ कहने पर प्रकाशन की हिंसा का दोष लगता है। ना कहने पर जिज्ञासुओं की ज्ञान-तृप्ति में बहुत बड़ी अन्तराय



लगती है, अतः इस विषय में माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

कइयों की यह तर्क भी रहती है कि साधु-साध्वी लेखन ही क्यों करते हैं ? उसके पीछे उनकी प्रकाशन की भावना होती होगी। किन्तु तथ्य यह नहीं है। किसी भी विषय में कुछ भी लिखने का मुख्य उद्देश्य पहले स्वयं का विकास करना होता है, उसके बाद गौण रूप से चतुर्विध संघ की कल्याण भावना भी उसमें निहित रह सकती है क्योंकि वह भी उस संघ का एक मूल अंग है, किन्तु इतने मात्र से उसको प्रकाशन का सहभागी नहीं माना जा सकता।

यदि ऐसा सोचा जाये कि भविष्य में इसका कोई उपयोग कर लेगा, इसलिए लिखा ही न जाये, तो यह सोचना भी शास्त्र के अनुकूल नहीं, क्योंकि जब कोई साधु बनता है, तो उसके दर्शन के लिए लोग हजारों मील दूर से भी आते हैं, उससे हिंसा होती है, तो फिर उस व्यक्ति को साधु ही नहीं बनना चाहिए, जिससे वे लोग दर्शनार्थ आये ही नहीं। किन्तु ऐसा सोचना उपयुक्त नहीं है। भगवान महावीर यदि दशार्णभद्र राजा के नगर में नहीं जाते, तो वे उनके दर्शन के लिए चतुरंगिणी सेना सजाकर नहीं आते और उससे हुई जीवों की हिंसा भी बच जाती, तो फिर भगवान को वहाँ जाना ही नहीं चाहिए था।

लेकिन ऐसा नहीं होता है। भगवान तो जनहित की भावना से विचरण करते थे, कोई भी किसी भी रूप में आये, तो उसका दोष उन्हें नहीं लगता। साथ ही भगवान ने दशार्णभद्र राजा को भी मना नहीं किया कि देवानुप्रिय! ऐसा मत करो, इससे जीवों की हिंसा होती है। दर्शन करने आना है, तो ऐसे ही आ सकते हो। हाथी, घोड़े क्यों लाते हो, इससे जीवों की हिंसा होगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं कहा, क्योंकि जहाँ शासन की प्रभावना भी हो और जीव हिंसा भी हो, तो साधु के लिए वहाँ मध्यस्थ रहना बतलाया है। इतने मात्र से यह तो नहीं कहा जा सकता कि भगवान की यह इच्छा होगी, इसीलिए वे वहाँ पधारे और दशार्णभद्र राजा को मना भी नहीं किया। यदि ऐसा माना जाये, तो फिर भगवान की मुक्ति ही कैसे होती ? अतः स्पष्ट है कि भगवान महावीर यह जानते हुए भी कि दशार्णभद्र राजा इस रूप में आयेगा, तो भी उसके नगर में

पधारे, वह इसलिए नहीं कि वह इस रूप में आये, किन्तु इसलिए कि वहाँ जाने से जनकल्याण होगा। (अंत में राजा दशार्णभद्र भी भगवान से मुण्डित होकर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो गया था।)

वैसे ही यदि साधु-साध्वी वर्ग कोई भी लेखन कार्य करते हैं, तो यह निश्चय नहीं होता कि उसका प्रकाशन होगा ही, क्योंकि यह गृहस्थों का कार्य क्षेत्र है। हाँ! यदि कोई साधु इन प्रकाशन के आरम्भजनक कार्यों में पड़ता है, तो उसे दोष लगता है। लेकिन साधु -साध्वी के लेखन की कोई पुस्तक प्रकाशित हो जाने मात्र से उन्हें दोष लग गया, यह मान लेना उचित नहीं है।

एक बात और है कि जिस प्रकार मृत्यु के समय संलेखना संथारा करने के साथ ही इस शरीर को वीसिरा देने के बाद शरीर को जलाने से लगनेवाली क्रिया साधु को नहीं लगती, वैसे ही साधु ने जो कुछ लेखन सामग्री तैयार की, इसे अपनी नेश्राय से छोड़ने पर श्रावक उसका क्या उपयोग करता है, क्या नहीं, तत्सम्बन्धी क्रिया साधु को नहीं लगती। शरीर को वीसिरा देने पर भी यदि साधु की भावना यह रह जाये कि मेरे शरीर को बैकुण्ठी में घुमाया जाये, चन्दन के काष्ठों पर चिता-शयन हो, तो उसे उसका दोष लगेगा। इसी प्रकार यदि साधु किसी भी प्रकार की लेखन सामग्री के तैयार करने पर यह सोचे कि इसका प्रकाशन हो और वह ऐसा हो, वैसा हो, श्रावकों को इस विषय में सावद्य निर्देशन दे, लिखे कोई और, पर पुस्तक स्वयं के नाम से करवाये, प्रकाशन के लिए पैसा इकट्ठा करवाये, उसका विमोचन करवाने के लिए राजनेताओं को बुलाये, आमंत्रण कार्ड छपवाये, आदि कार्यों में भाग लेता है, तो उसे निश्चित ही दोष लगेगा। पर प्रकाशन आदि किसी भी सावद्य कार्य में भाग नहीं लेता, तो उसे तत्सम्बन्धी कोई दोष नहीं लगता।

क्रान्तदृष्टा, ज्योतिर्धर स्व. जवाहराचार्य ने इन सभी विषयों को जिस सैद्धान्तिक धरातल पर प्रस्तुत किया है, तदनुसार ही संघ की मर्यादा अक्षुण्ण गतिशील है। अतः उसमें किसी भी प्रकार के दोषावकाश

की स्थिति नहीं रहती।

**प्रश्न-38 :** सिद्ध भगवान में चरित्र होता है या नहीं ?

**उत्तर :** स्वरूप रमण रूप अनन्त चरित्र सिद्ध भगवान में होता है। किन्तु शरीर से मुख्यतया सम्बन्धित सामायिक आदि संख्या रूप चरित्र नहीं होते।

चरित्र का सम्बन्ध मोह कर्म के क्षय से रहा हुआ है। जैसे मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। वैसे ही चारित्र मोह कर्म की प्रकृतियों का समूल नष्ट होने से चारित्र मोह कर्म से आवृत आत्मिक गुण क्षायिक चरित्र प्रकट होता है। क्षायिक चरित्र का तात्पर्य है - आत्म प्रदेशों का स्वच्छ एवं स्थिर हो जाना- स्व-स्वरूप में रमण करना। ऐसा क्षायिक चरित्र सिद्धों में भी होता है। श्री यशोविजयजी ने भी अपने ज्ञान सागर 3/8 में कहा है यथा-

**चारित्रं स्थिरतारूपं यतः सिद्धेष्वपीष्यते।**

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी के सामायिक सूत्र में भी इस विषयक उल्लेख मिलता है। यथा-

आत्म भाव में स्थिर होनेवाले चारित्र से ही मोक्ष मिलता है- यह जैन-तत्व ज्ञान का प्रत्येक अभ्यासी जानता है। इतना ही नहीं, समता यानि आत्मस्थिरता रूप चारित्र तो सिद्धों में भी होता है। सिद्धों में स्थूल क्रिया-काण्ड रूप चारित्र नहीं होता, परन्तु आत्म स्थिरता रूप निश्चय चारित्र तो वहाँ भी आगम सम्मत है। चारित्र आत्म विकास रूप एक गुण है। अतः उसके अभाव में सिद्धत्व सिवा शून्य के और कुछ नहीं रहेगा।

**प्रश्न-39 :** साधु सन्त अगर किसी के शरीर से प्रेतात्मा (भूत, डाकण) आदि निकालते हैं, तो यह उचित है या अनुचित ? अगर अनुचित है, तो क्या साधु को किसी प्रकार का दोष लगता है ?

**उत्तर :** वीतराग उपदिष्ट महाव्रतों को स्वीकारकर चलनेवाले साधु को प्रेतात्मा आदि को भगाने हेतु अथवा आह्वान करने हेतु तंत्र-

मंत्र आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से श्रमण जीवन में कई प्रकार के दोषों की संभावना रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार की प्रक्रिया करनेवाले साधक को श्रमण नहीं कहा है। यथा-

**जे लक्खणं य सुविणं, अंगविज्जं य जे पउंजंति।**

**ण हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं।।**

जो साधु स्त्री-पुरुषों के शुभाशुभ लक्षण बतानेवाली लक्षण विद्या का और स्वप्न का शुभाशुभ फल बतानेवाली स्वप्न विद्या का और अंग-उपांग के स्फुरण यानि फड़कने का फल बतानेवाली अंग विद्या का प्रयोग करते हैं, वे निश्चय ही साधु नहीं कहलाते हैं, इस प्रकार आचार्यों ने फरमाया है।

अतः जब साधु अंग विद्या आदि का भी प्रयोग नहीं कर सकते, तो भूत-प्रेत आदि को निकालने की प्रक्रिया कर ही कैसे सकते हैं ? उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 14 की 7/8 गाथा में तथा 20/45 में भी इस विषय का निर्देश दिया है।

**प्रश्न-40 :** जैनागम के अतिरिक्त व्याकरण आदि पढ़ें, तो मिथ्यात्व दोष लगता है क्या ?

**उत्तर :** सम्यक्त्वी आत्मा जैनागम का मर्म समझने की अभिलाषावाला होता है। आगम शास्त्र प्राकृत भाषा में हैं। जिससे उनका अर्थ सुगमता से प्रत्येक व्यक्ति को बोध होना दुर्लभ है। अतः उन आगमों का ज्ञान सुगम बनाने के लिए प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण आदि तत्संबंधित साहित्य के अध्ययन की भी आवश्यकता रहती है। उस आवश्यकता की पूर्ति हेतु संस्कृत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया जा सकता है।

अथवा

शास्त्रीय अर्थ को जनमानस में भव्य तरीके से पुष्ट बनाने हेतु भी तत्संबंधित पुस्तकों का अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु संस्कृत आदि अन्य साहित्य सर्वोपरि न समझा जाये, न ही धर्म ग्रन्थ माना जाये। आगमों के सहायक रूप होने की भावना से अध्ययन करें, तो

मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता है, परन्तु संस्कृत आदि व्याकरण को ही सब कुछ समझा जाये, उसी को धर्म शास्त्र माना जाये, तो मिथ्यात्व का दोष भी संभावित है।

**प्रश्न-41 :** संवर करनेवाला श्रावक अछाया में तथा गादी-तकिया लगाकर सो सकता है क्या ?

**उत्तर :** संवर का विस्तृत दायरा है। परन्तु विवेकशील व्यक्ति को अछाया में संवर नहीं करने का विवेक रखना चाहिए। सुरे समाधे गादी-तकिया आदि का प्रयोग भी उपयुक्त नहीं रहता।

**प्रश्न-42 :** संयम शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ क्या है ?

**उत्तर :** सं + यम = संयम

सम्यक् प्रकार से यम-महाव्रतादि का पाँच इन्द्रियों और मन सेविधिवत् पालन करना संयम कहलाता है।

**व्युत्पत्ति-** सम्यक्रीत्या इन्द्रियमनसां दमनं आत्मानुकूलेन भवनं संयमः।

जिनदास महत्तर ने संयम का अर्थ किया है-

**संजमो नाम उवरमो रागदोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति।**

-जि. चू. पृ. 15

राग-द्वेष से रहित होकर एकीभाव में स्थित होना संयम है। हरिभद्रसूरि ने संयम का अर्थ इस प्रकार किया है- “**आश्रवद्वारोपरमः संयमः**” अर्थात् कर्म आने के हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह - ये जो पाँच द्वार हैं, उनसे उपरम होना संयम है।

**प्रश्न-43 :** केशलुंचन का विधान कल्प सूत्र के अतिरिक्त अन्य किस आगम में उपलब्ध होता है ? क्या अंग साहित्य में कोई ऐसा उदाहरण आता है, जिसमें दीक्षा ग्रहण करते समय पंच मुष्ठी लुंचन के अतिरिक्त किसी अन्य समय में लुंचन किया हो ?

**उत्तर :** केश लुंचन करना जैन श्रमण का आचार है। केश लुंचन की प्रवृत्ति किन्हीं आचार्यों द्वारा पीछे से बनायी गयी हो, ऐसा नहीं है। आगम की भाषा में उसे अनादि कहा जा सकता है, क्योंकि द्वादशांगी अनादि है। उसी द्वादशांगी में एवं अन्य प्रामाणिक आगम

शास्त्रों में केश लुंचन का विधान आया है।

द्वादशांगी में दूसरा अंग सूत्रकृतांग है। उस सूत्रकृतांग में बताया गया है कि-

**संतता केसलोएणं बंभचेरराइया।**

**तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठावकेयणे॥**

अर्थ :- केश लोच से पीड़ित और ब्रह्मचर्य पालने में असमर्थ पुरुष प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे जाल में फंसी हुई मछली दुःख भोगती है अर्थात् तड़पड़ाती है।

तथा उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र के माता-पिता मृगापुत्र को श्रमण चर्या के कष्टों को दिखलाते हुए कहते हैं कि 'केस लोओ य दारुणो' इसके अलावा निरयावलिका पंचक सूत्र में निषध कुमार के वर्णन में बतलाया गया है, कि.....

**जस्सट्ठाए कीरई णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणए जाव अदन्तवणए अच्छत्तए अणोवाहणाए फलहसेज्जा कट्टसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे-परघर-पवेसे पिंडवाओ लद्धाव-लद्धे उच्चावयाय गामकंटया अहिया सिज्जई तमट्टं आराहिइ आराहिता चरमे हि उस्सासनिस्सासेहिं सिज्जिहिइ बुज्जिहिइ जाव सव्वदुक्खाणं अंतं काहिइ।**

*निरयावलिका वर्ग 5 (वृष्णिदशा) अ. 1 सू. 3*

सूत्रकृतांग की टीका में भी केश लोच का वर्णन आया है। अतः उक्त उदाहरणों से जैन मुनि को लोच करना चाहिए - यह स्वतःसिद्ध है।

**प्रश्न-44 :** पंच मुष्ठी लुंचन में दाढ़ी-मूँछ के लुंचन का समावेश कैसे होता है ? अन्य किसी स्थल पर कोई उदाहरण मिलता है क्या ? यदि नहीं, तो दाढ़ी-मूँछ के लुंचन की परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

**उत्तर :** दाढ़ी-मूँछ के लुंचन का मस्तक-लुंचन में ही समावेश हो जाता है। व्यवहार में शिर काट डाला - कहने से गले के ऊपर का भाग लिया जाता है। उत्तम अंग में मस्तिष्क को माना गया है। उसमें गले के ऊपर के पूरे भाग को लिया है। अतः 'प्रधानेन व्यपदेशः भवन्ति' के अनुसार मस्तिष्क के लोच का विधान होने से दाढ़ी-मूँछ

का लोच भी उसी में सम्मिलित हो जाता है।

**प्रश्न-45 :** आगम साहित्य में जितने उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रव्रज्या-ग्रहण के समय पंचमुष्ठी लुंचन का ही विधान है, तो फिर आजकल दीक्षा लेते समय लुंचन क्यों नहीं होता है, मुण्डन की यह परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

**उत्तर :** आगम साहित्य में जितने उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रव्रज्या-ग्रहण के समय पंचमुष्ठी लुंचन का ही विधान है - ऐसा एकान्तिक विधान नहीं है। आगम साहित्य में सबसे प्रामाणिक अंग शास्त्र हैं। उन अंग शास्त्रों में प्रव्रज्या ग्रहण करते समय मुण्डन का विधान भी उपलब्ध होता है। ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र में मेघकुमार के अधिकार में बतलाया गया है-

**“तएणं से कासवए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हड्डतुड्ड जाव हियए जाव पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभि गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ- पक्खालित्ता सुद्धवत्थेण मुहं बन्धइ बन्धइत्ता परेणं जत्तेणं मेहस्स चउरंगुलवज्जे निक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पइ।”**

इस प्रकार का उल्लेख केवल ज्ञाता धर्म में ही नहीं, सुख-विपाक, भगवती, अन्तगड़ आदि आगमों में भी उपलब्ध है। अतः मुण्डन की परम्परा प्राचीन ही नहीं अनादिकालीन कही जा सकती है।

मेघकुमार के अधिकार में मूल पाठ में जो “अग्गकेसे कप्पइ” पाठ आया है। इसका अर्थ कई ऊपर-ऊपर के बाल काटने का करते हैं। पर वह संगत नहीं है, बल्कि मस्तिष्क के अगले भाग के केशों को काटना अर्थ होता है। यह अर्थ ‘चउरंगुलवज्जे’ पाठ से सिद्ध होता है अर्थात् मस्तिष्क के पिछले भाग में चार अंगुल छोड़कर आगे-आगे के केशों को काटना, उसके साथ ही निक्खमण पाउग्गे शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षाप्रायोग्य। अतः मुण्डन की परम्परा प्रागैतिहासिक है।

**प्रश्न 46 :** उठ सकता है कि मेघकुमार आदि का दीक्षा ग्रहण के समय पुनः पंचमुष्ठी लोच करने का उल्लेख है, यदि घर से मुण्डन करके गये, तो फिर लोच कैसे सम्भव हो सकता है ?

इसका समाधान यह है कि घर पर जो केश कटवाये गये थे,

उस समय 'चउरंगुलवज्जे' अर्थात् चार अंगुल स्थान को छोड़कर मस्तिष्क के अग्र भाग के केशों को ही कटवाया गया था। जो चार अंगुल स्थान विशेष के केश अवशेष रह गये थे, उन केशों का दीक्षा लेते समय लुंचन किया जाता है। दशवैकालिक सूत्र में भी बतलाया गया है कि "जया मुण्डे भवित्तापणं पव्वइयं अणगारियं" अतः मुण्डन की परम्परा आगम-सम्मत ही सिद्ध है।

**प्रश्न-46 :** देवसी प्रतिक्रमण दिवसान्त के पश्चात् रात्रि के प्रारम्भ होने पर किया जाता है। वैसे ही रायसी प्रतिक्रमण रात्रि के अन्त एवं दिन के प्रारम्भ होने पर क्यों नहीं किया जाता है ?

**उत्तर :** देवसी प्रतिक्रमण की तरह रायसी प्रतिक्रमण करने का तर्क युक्ति संगत है, पर वर्तमान में प्रचलित परम्परा अर्वाचीन हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता। यद्यपि कई विचारकों ने देवसिय प्रतिक्रमण सूर्यास्त के पूर्व करने के अभिमत व्यक्त किये हैं। उसे प्राचीन परंपरा भी बतलायी है। उत्तराध्ययन सूत्र से भी उक्त परंपरा को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। पर वह संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन की 38 वीं गाथा में चतुर्थ प्रहर के चतुर्थ भाग में प्रतिलेखन करने का उल्लेख किया गया है। वस्त्र, शय्या आदि की प्रतिलेखना के पश्चात् परठने की भूमि का प्रतिलेखन करने का उल्लेख है। इसके पश्चात् प्रतिक्रमण करने का विधान है। चौथे प्रहर का चौथा भाग लगभग 45 मिनट का होता है। शीतकाल के समय में तो उससे भी छोटा होता है। यह समय वस्त्र, शय्या एवं भूमि आदि के प्रतिलेखन में ही पूरा हो जाना संभव है। वैसे ही स्थिति में दिन रहते-रहते देवसिय प्रतिक्रमण कैसे संगत बैठ सकता है? सूत्रकृतांग सूत्र 2/2/14 में बतलाया गया है कि जहाँ सूर्यास्त हो जाये, चारित्रवान साधु वहीं क्षोभ रहित होकर रुक जाये। यदि सूर्यास्त तक साधु चलता है, तो फिर प्रतिक्रमण कब करेगा ? अतः देवसी प्रतिक्रमण सूर्यास्त के पश्चात् सम्भव हो सकता है। वैसे ही रायसी प्रतिक्रमण सूर्योदय के पहिले करना आगम-सम्मत है। उत्तराध्ययन के उक्त अध्ययन में ही 21 वीं गाथा में



प्रथम पोरसी के प्रथम प्रहर में प्रतिलेखन करने का निर्देश दिया है। अतः सूर्योदय के पश्चात् प्रतिक्रमण का विधान होता, तो प्रथम प्रहर के प्रथम भाग में प्रतिलेखन का विधान कैसे किया जाता ? इतना ही नहीं उसी प्रहर के चतुर्थ भाग में रात्रि प्रतिक्रमण करें।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में क्षेत्रातिक्रान्त दोष का जो विधान हुआ है, उससे भी सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के पश्चात् प्रतिक्रमण करना सिद्ध होता है। अतः देवसी प्रतिक्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में करना आगम-सम्मत है।

**प्रश्न-47 :** आल का कलाकन्द, गाजर का कलाकन्द आदि जिसके लिलोत्री के नियम हो, वह कितने दिन के अन्तराल से उपयोग में ले सकता है ?

**उत्तर :** तीन या चार दिवस से उपयोग लिया जा सकता है। अव्यवस्थित रह गया है, तो फुलन की सम्भावना होने से हरी की सम्भावना लग सकती है, अन्यथा नहीं।

**प्रश्न-48 :** साधु को धुली हुई मुँहपत्ती का प्रतिलेखन कितने दिन के अन्तराल से करना चाहिए ?

**उत्तर :** मुँहपत्ती धुली हुई हो अथवा बिना धुली हुई, प्रतिलेखन उभयकाल नियमित होना चाहिए। कदाचित् कभी भूल से रह जाये, तो उसका प्रायश्चित आता है।

**प्रश्न-49 :** जिस धर्म स्थान पर श्रावक धार्मिक अनुष्ठान करता है, उस स्थान में कभी परिस्थिति वश बिजली रातभर जलती हो और व्रतधारी श्रावक मूत्रादि परठने के लिए आवागमन करता हो, तो श्रावक को क्या प्रायश्चित आता है ?

**उत्तर :** सामायिक आदि धार्मिक क्रिया में संलग्न श्रावक को सावद्य क्रिया करने एवं करवाने का त्याग होता है। ऐसी स्थिति में बिजली आदि के प्रकाश में वह भूमि परिमार्जन करता हुआ विद्युत आदि के प्रकाश की आकांक्षा रहित होकर यदि परठने आदि के लिए गमनागमन करता है, तो उस श्रावक को तत्संबन्धी प्रायश्चित आने का प्रसंग नहीं रहता। उस धार्मिक स्थान पर यदि सन्त-सती वर्ग विराज रहे हों, तो

उसमें बिजली आदि कतई नहीं रहनी चाहिए।

**प्रश्न-50 :** आयम्बिल के अन्दर सुरायायी हुई सब्जी उबालकर खा सकते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** आयम्बिल के अन्दर सुरायायी हुई सब्जी अथवा अन्य कोई साग नहीं लेना चाहिए। आयम्बिल मुख्यतया रसनेन्द्रिय को जीतने की प्रक्रिया है। अतः गृहस्थावस्था में रहनेवाला गृहस्थ आयम्बिल करता है, तो उसको बनती कोशिश एक जातीय अलूना प्रासुक अन्न पानी में भिगोये बिना नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह गृहस्थ होने से एक जातीय अन्न को प्राप्त कर सकता है, परन्तु साधु जीवन में ऐसी शक्यता नहीं है। अतः उनकी भिक्षा में सहज स्वाभाविक आयम्बिल योग्य एक जातीय या दो जातीय आदि जो भी भिक्षा प्राप्त हो, वह प्रासुक पानी में भिगो करके ग्रहण कर सकता है। पर इस प्रकार की सब्जियाँ आदि उबालकर व अन्य तरीके से ग्रहण करना, आयम्बिल तप के उद्देश्य के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

**प्रश्न-51 :** चौथे आरे की स्थिति आरम्भ में करोड़ पूर्व एवं अन्त में 100 वर्ष झाझेरी है, तो भगवान महावीर का आयुष्य 72 वर्ष कैसे ?

**उत्तर :** उतरते चौथे आरे की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति 100 वर्ष झाझेरी लघुदण्डक में बतायी है।

अतः अन्तर्मुहूर्त से 100 वर्ष झाझेरी पर्यन्त मध्य में जितनी भी स्थिति है, वह सब आ जाती है। अतः भगवान महावीर की 72 वर्ष की स्थिति भी उसके अन्तर्गत ही होने से कोई विरोध नहीं आता।

**प्रश्न-52 :** पंचरंगी आदि में जो 2-3-4 लिखवाते हैं, वो सञ्जन दया, उपवास न करके आयम्बिल कर सकते हैं क्या ?

**उत्तर :** उपवास, दया या आयम्बिल किसी की भी पंचरंगी हो सकती है। अगर उपवास की पंचरंगी हो, तो उपवास की पंचरंगी, आयम्बिल की, हो तो आयम्बिल की पंचरंगी, दया की हो, तो दया की पंचरंगी कहना चाहिए। अगर सम्मिलित हो, तो उपवास-दया पंचरंगी या दया-आयम्बिल की पंचरंगी या उपवास-आयम्बिल की पंचरंगी

कहना चाहिए। जैसा भी हो, वैसा कथन करना चाहिए।

**प्रश्न-53 :** क्या खा-पीकर ग्यारहवाँ पौषध किया जा सकता है ?

**उत्तर :** खा-पीकर के जो पौषध होता है, वह दसवाँ पौषध कहलाता है। ग्यारहवें पौषध के पञ्चक्खाण का जो पाठ है, उसमें असणं पाणं खाइमं साइमं के त्याग का उल्लेख है। उसमें पानी का भी आगार नहीं है। अतः ग्यारहवें पौषध में पानी भी नहीं लिया जा सकता है। यदि कोई यह तर्क करे कि पानी लेकर ग्यारहवाँ पौषध पञ्चक्ख लिया जाये, तो दूसरा व्यक्ति यह भी कह सकता है कि जैसे पानी लेकर ग्यारहवाँ पौषध पञ्चक्खा जाता है, वैसे ही आहार भी लेकर ग्यारहवाँ पौषध पञ्चक्खें, तो क्या हर्ज है ? इसी तरह कोई अब्रह्म को, कोई शृंगार को खुला रखकर ग्यारहवाँ पौषध करना शुरू करने लगे, तो यह उस पाठ की अवहेलना होगी और साथ ही जो ग्यारहवें पौषध की परिपाटी है, वह सारी गड़बड़ में पड़ जायेगी।

अतः ग्यारहवाँ पौषध चौविहार-पूर्वक ही करना चाहिए।

**प्रश्न-54 :** आयम्बिल तथा एकासनवाला दसवाँ पौषध कर सकता है क्या ?

**उत्तर :** आयम्बिल, एकासना यदि संवर या दयापूर्वक हो, तो दसवाँ पौषध किया जा सकता है।

**प्रश्न-55 :** पाँच प्रहर का जो ग्यारहवाँ पौषध पञ्चक्खाया जाता है, उसको किस पाठ से पचक्खाया जाता है ?

**उत्तर :** ग्यारहवें प्रतिपूर्ण पौषध के पाठ से पञ्चक्खाया जाता है। पर ग्यारहवाँ पौषध पञ्चक्खाते समय प्रतिपूर्ण शब्द का उच्चारण नहीं करना चाहिए।

**प्रश्न-56 :** ग्यारहवें पौषध में पानी क्यों नहीं लिया जाता ?

**उत्तर :** ग्यारहवें पौषध में पानी नहीं लेना, यह पौषध पञ्चक्खानेवाले पाठ से ही सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें असणं पाणं खाइमं साइमं का त्याग कहा है, इसीलिए ग्यारहवें पौषध में पानी नहीं

लिया जा सकता।

**प्रश्न-57 :** गुजराती समाज गुरु वन्दना के तिक्खुतो पाठ में “करेमि” शब्द का उच्चारण नहीं करते। अतः करेमि शब्द का उच्चारण करना चाहिए या नहीं ?

**उत्तर :** तिक्खुतो के पाठ में एक मत का ऐसा कहना है कि तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं करेमि यह पाठ का सूचक है। इस मत के अनुसार विधि यदि ऊपर से समझाकर वंदामि पाठ से उच्चारण कराया जाता है, तो तिक्खुतो से करेमि तक सभी छोड़ना उपयुक्त रहता है, न कि सिर्फ करेमि शब्द। पर उपर्युक्त विधि हर कोई समझ जाये, ऐसी स्थिति नहीं रहती। इसीलिए इन विधिपरक शब्दों सहित उच्चारण करना योग्य रहता है। अतः करेमि शब्द का भी उच्चारण हो जाने से हर व्यक्ति को इस विषयक ज्ञान में सुविधा रहती है।

**प्रश्न-58 :** चौविहार (देश पौषध) पाँच प्रहर का पञ्चक्खा जाता है। क्या चौविहार उपवास करनेवाला ग्यारहवाँ पौषध चार प्रहर का नहीं पञ्चक्ख सकता, क्योंकि पाठ में समय का खुलासा नहीं है। पाठ में “अहोरत्तं” शब्द आया है, इसका क्या अर्थ है ?

**उत्तर :** चौविहार उपवासवाले के लिए पाँच प्रहर का पौषध ग्रहण करने की पद्धति ‘परम्परा’ से समझनी चाहिए। इसमें कम से कम एक प्रहर दिन का भाग तो होना ही चाहिए। इस परम्परा में चौविहार तो ‘अहोरत्तं’ का होता ही है। एक प्रहर दिन का भाग पौषध में समाविष्ट हो जाने से परम्परा की दृष्टि से गलत नहीं होता। चौविहार रहने पर भी चार प्रहर का ग्यारहवाँ पौषध परम्परा से नहीं पञ्चक्खा जाता, क्योंकि एक प्रहर का दिन सम्बन्धी भाग इसके साथ नहीं जुड़ता। इसके अतिरिक्त दसवें और ग्यारहवें पौषध की भेद-रेखा भी होनी चाहिए। अतः अहोरत्तं शब्द का अर्थ दिन-रात होता है। इसलिए दिन का कम से कम एक प्रहर समय एवं रात्रि मिलाकर अहोरत्तं की मर्यादा का पालन हो जाये, इस भावना से परम्परा से ग्यारहवाँ पौषध पाँच प्रहर का पञ्चक्खाया जाता है। अतः परम्परा से चार प्रहर का ग्यारहवाँ पौषध

का प्रत्याख्यान नहीं करवाया जाता।

**प्रश्न-59 :** ग्यारहवें पौषध में समय पाँच प्रहर लेना या पन्द्रह घण्टे ? क्योंकि शीत काल में जब 13.30 घण्टे की रात्रि होगी, तब क्या आधा घण्टा दिन रहने पर पौषध लेकर सूर्योदय पर पाला जा सकेगा, नहीं तो ग्रीष्म काल में 10.30 घण्टे की रात्रि होने पर एक प्रहर लगभग 3.30 घण्टे दिन रहने पर और सूर्योदय के समय पार लेने से 14 घण्टे होते हैं। अतः कौनसी व्यवस्था उचित है ?

**उत्तर :** ग्यारहवें पौषध में पाँच प्रहर लेना चाहिए, वह भी जिस दिन उपवास हो, उस दिन चौथा प्रहर लगने के आस-पास पौषध ग्रहण कर लेना चाहिए। कदाचित् कुछ विलम्ब हो जाये, तो उतना समय सूर्योदय के पश्चात् पूरा किया जा सकता है, रात्रि चाहे कितने ही घंटों की हो, पर वह समय 4 प्रहर कहलाता है। अतः एक प्रहर दिन का अवश्य होना चाहिए।

**प्रश्न-60 :** सर्वार्थसिद्ध में कौनसी समकित पायी जाती है? अगर एकांत क्षायिक समकित ही पाती हो, तो इसका वर्णन कौन से शास्त्र में है ?

**उत्तर :** सर्वार्थसिद्ध में क्षायिक एवं क्षयोपशमिक दोनों समकित पायी जाती हैं। 198 देवों के भेदों में से 15 परमाधार्मिक एवं 3 किल्बिषी  $15+3 = 18$  के पर्याप्ता-अपर्याप्ता  $18 \times 2 = 36$  को छोड़कर शेष 162 भेद क्षायिक एवं क्षयोपशम समकित में पाये जाते हैं। इससे सर्वार्थसिद्ध में दोनों समकितों का होना सिद्ध होता है।

**प्रश्न-61:** चार स्थावर (पृथ्वी, अप, वायु और वनस्पति) सचित एवं अचित दोनों ही होते हैं, तो क्या तेउकाय भी सचित-अचित दोनों होते हैं, अचित तेउकाय कौनसी ?

**उत्तर :** चार स्थावर की तरह तेउकाय भी सचित एवं अचित होती हैं। तेउकाय के साथ एकमेक होकर जो पुद्गल अवशेष रह जाते हैं, उन्हें अचित तेउकाय कहते हैं। जैसे- भडभूजा की भट्टी की अग्नि से भट्टी की तप्त ईंटें, चूल्हे पर चढ़ाया हुआ तप्त तवा एवं राख आदि।

**प्रश्न-62 :** तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का क्या होता है ?

**उत्तर :** तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का देव दाह संस्कार कर देते हैं तथा जो राख, हड्डी आदि अवशेष रह जाते हैं, उसे क्षीर समुद्र में जाकर बहा देते हैं।

**प्रश्न-63 :** मक्खन (बिना छाछ) में जीवों की उत्पत्ति होती है अथवा नहीं ? होती है, तो कितने समय बाद ? इसका प्रमाण क्या ?

**उत्तर :** छाछ रहित मक्खन में जीवों की उत्पत्ति हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए उसमें जीवों की उत्पत्ति हो ही जाती है, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। परम्परा से छाछ से निकाला हुआ मक्खन अन्तर्मुहूर्त के बाद ग्राह्य नहीं समझा जाता। छाछ के अन्दर रहा हुआ मक्खन भी बिना कारणिक अवस्था में साधु-साध्वी को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**प्रश्न-64 :** डालडा (वनस्पति घी) घी का विगय गिना जाये अथवा तेल, का क्योंकि डिब्बे पर तेल लिखा रहता है, व्यवहार में उसको घी कहा जाता है ?

**उत्तर :** डालडा (वनस्पति घी) घी के डिब्बे पर यदि तेल लिखा हुआ हो, तो उसे घी का विगय नहीं समझना चाहिए।

**प्रश्न-65 :** मूंगफली, जमीकंद है या नहीं ?

**उत्तर :** जमीकंद का अर्थ यदि जमीन में उत्पन्न होना लिया जाये, तो उस परिभाषा के अनुसार मूंगफली जमीकंद है। यदि जमीकंद का अर्थ अनन्तकायिक निगोद आदि के रूप में ग्रहण किया जाता हो, तो मूंगफली अनन्त कायिक जमीकंद (निगोद) नहीं है।

**प्रश्न-66 :** यदि साधु किसी गृहस्थ को सामायिक पञ्चक्खाये, और गृहस्थ सामायिक को अधूरी पाल ले, तो पञ्चक्खानेवाले को प्रायश्चित आता है क्या ?

**उत्तर :** कोई श्रावक संतों से यदि सामायिक अथवा दूसरे प्रत्याख्यान माँगता है, तो संत उन्हें प्रत्याख्यान करवाते हैं। किन्तु कालांतर में कदाचित् कोई प्रत्याख्यान तोड़ दे अथवा अधूरे में पूरा

करलें, तो उसका दोष साधु को नहीं आता, क्योंकि जैसे जमालि आदि ने भगवान महावीर से दीक्षा लेकर के भी सम्यक् अनुपालना नहीं की, उसका दोष भगवान को नहीं लगा।

**प्रश्न-67 :** यह एक प्रकार की समाचारी है कि साधु बाहर जाये, तब आवस्सही-आवस्सही कहे और वापस लौटे, तब निस्सही-निस्सही कहे, तो क्या ऐसा कहना जरूरी है ? तथा आवस्सही आदि मन में कहना या उच्च स्वर से ? यदि बड़े साधु हों और वे जोर से नहीं कहें, तो छोटा साधु उस विषय में उनको कह सकता है क्या ?

**उत्तर :** साधु बड़ा हो अथवा छोटा आवस्सही-निस्सही आदि शब्दों का उच्चारण कुछ जोर से करना चाहिए। बड़े संतों को कुछ भी कहने का प्रसंग आये, तो छोटे संत को विनम्र भाव से उन्हें निवेदन कर देना चाहिए, आदेश रूप में नहीं।

**प्रश्न-68 :** बिलौना करती हुई बाई साधु को आहार बहरा सकती है क्या ?

**उत्तर :** बिलौना करती हुई बाई किस अवस्था में है, उसका विवेक गवेषक को रखना अपेक्षित है। बिलौना कर रही हो, तो उसे बन्द करवाकर आहार नहीं लेना चाहिए।

**प्रश्न-69 :** जैसे साधु के लिए यह नियम है कि वह गृहस्थ के सामने मुँहपत्ती नहीं खोले। तो क्या गृहस्थ को मुँह दिखाकर गृहस्थ को उसका प्रायश्चित्त दिया जा सकता है ?

**उत्तर :** साधु को मुँह दिखाने की दृष्टि से गृहस्थ के सामने मुँहपत्ती कतई नहीं खोलनी चाहिए और न ही गृहस्थ को प्रायश्चित्त आदि का प्रसंग रहता है।

**प्रश्न-70 :** साधू खूंटी आदि पर टंगे हुए थैले में से कोई वस्तु ले सकता है क्या ?

**उत्तर :** खूंटी पर टंगे थैले आदि से वस्तु ग्रहण करने में अयतना की संभावना हो, तो साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**प्रश्न-71 :** हिन्दुस्तान कौन से भरत क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है ? जो अलग-अलग भरत क्षेत्र का वर्णन आया है, उनमें अपना भरत क्षेत्र

कौनसा है ?

**उत्तर :** शास्त्रों में पाँच भरत क्षेत्र बतलाये हैं-

एक जम्बूद्वीप में, दो धातकी खण्ड में एवं दो अर्द्धपुष्करवर द्वीप में। इस तरह पाँच भरत में से अपना भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप में है। वह मेरूपर्वत से दक्षिण दिशा में है।

**प्रश्न-72 :** कच्चे खोपरे का पानी एवं कच्चा खोपरा सचित है या अचित ?

**उत्तर :** कच्चे खोपरे का तात्पर्य अपक्व नारियल से नहीं है, पक्के हुए नारियल के गीलापन से है। ऐसे कच्चे यानि गीले खोपरे का पानी जब तक खोपरे के अन्दर है, तब तक सचित माना जाता है। बाहर निकलने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् इस पानी को सचित नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार खोपरे में से बीज अलग हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त पश्चात् खोपरा भी सचित नहीं माना जाता। जैसे आम आदि का रस एवं पणा। पूर्व परम्परा ऐसी ही ज्ञात है। वर्तमान में अपने मनमाने ढंग से अमुक वस्तु को सचित एवं अमुक वस्तु को अचित मान लेना स्वेच्छाचार कहा जा सकता है।

**प्रश्न-73 :** पेन जब जेब में रहता है, तो अचित मानना और लिखें, तब उसको सचित मानना कहाँ तक न्याय संगत है ?

**उत्तर :** पेन तो अचित ही होता है। सभी उसे अचित ही मानते हैं। मतभेद स्याही को लेकर चलता है। एक पक्ष का कहना है कि स्याही में फूलन आ सकती है, इसलिए प्रयोग नहीं करना चाहिए, परन्तु यह उनकी केवल आशंका मात्र है। वैज्ञानिकों के कथानुसार इसमें कई इस प्रकार के केमिकल्स मिलाये जाते हैं, जिससे स्याही में फूलन नहीं आ सकती, इस विषय को “संयुक्त निर्णय समीक्षा” में श्रीमान् कालूरामजी छाजेड़ आदि ने स्पष्ट किया है।

जो स्याही में सचित की आशंका करते हैं, उनके लिए नियमानुसार स्याही युक्त पेन चाहे जेब में हो, चाहे लिख रहे हो, ऐसे



व्यक्ति से संघट्टा टालना आवश्यक है। ऐसा नहीं मानकर जब में रहने पर संघट्टा नहीं मानना और लिखते समय संघट्टा का प्रतिपादन करना युक्तिसंगत नहीं है।

**प्रश्न-74 :** जिस प्रकार स्थंडिल जाकर गुरु के पहले शिष्य गमनागमन का प्रतिक्रमण करता है, तो आशातना लगती है। उसी प्रकार गोचरी आदि में जाकर गुरु से पहले इर्यापथिक प्रतिक्रमण करले, तो आशातना लगती है क्या ?

**उत्तर :** गुरु अथवा बड़ों के पश्चात् ही गमनागमन आदि काउस्सग करना चाहिए। 33 आशातना में जो स्थंडिल शब्द का प्रयोग हुआ है, उसे केवल स्थंडिल तक ही सीमित नहीं करके तदनुसार प्रत्येक स्थान पर वह स्थिति लागू समझनी चाहिए।

**प्रश्न-75 :** आधाकर्मी आहार साधु यदि भोगे, तो उसको क्या प्रायश्चित आता है ?

**उत्तर :** आधाकर्मी आहार किस अवस्था विशेष में उपयोग किया गया है, उसकी आलोचना पर ही निर्भर करता है, तथापि प्रायश्चित दीक्षा छेद से तो कम का नहीं आता।

**प्रश्न-76 :** साधु रात्रि में प्रवचन देने के लिए कितनी दूर जा सकता है तथा कितनी रात्रियों तक जा सकता है ?

**उत्तर :** रात्रि में परठने के लिए जितनी भूमि में जा सकता है, प्रवचन के लिए भी रात्रि में उतनी भूमि की मर्यादा समझनी चाहिए। वह भी एक गाँव में अपवाद स्वरूप एक या दो रात्रि, उससे अधिक नहीं।

**प्रश्न-77 :** सरस्वती एवं लक्ष्मी के माता-पिता का क्या नाम था ?

**उत्तर :** जैनागमों में ऐसा प्रसंग कहीं नहीं आया है। जैन सिद्धान्तानुसार देव-देवियों के माता-पिता का प्रसंग ही नहीं रहता।

**प्रश्न-78 :** साधु रात्रि में एक कमरे में अकेला सो सकता है क्या ? यदि उसे सोना नहीं कल्पता है, तो उसको प्रायश्चित आता है क्या ?

**उत्तर :** कमरा हो, चाहे बरामदा, साधु-साध्वी को एक दूसरे

की दृष्टि में ही सोना चाहिए। जहाँ दृष्टि का प्रसार नहीं होता है, वहाँ चाहे कमरा हो अथवा बरामदा, नहीं सोना चाहिए। इस मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला प्रायश्चित का भागी होता है।

**प्रश्न-79 :** कोई साधु गृहस्थ के घर पेनादि भरने के लिए गृहस्थ की आज्ञा लेकर बैठ सकता है या नहीं ?

**उत्तर :** किसी सबल कारण के अभाव में गृहस्थ के घर आज्ञा लेकर भी नहीं बैठना चाहिए।

**प्रश्न-80 :** साधु के नेश्राय में रही हुई पुस्तकादि गृहस्थ ज्ञानादि वृद्धि के लिए ले जाये और वह गृहस्थ 1, 2 या 3 दिन में वापस दे, तो साधु को प्रायश्चित आता है क्या ? आता है, तो कितना ?

**उत्तर :** साधु के नेश्राय की पुस्तक गृहस्थ को स्थानक से बाहर ले जाने हेतु नहीं देना चाहिए तथा रात्रि में भी गृहस्थ के पास नहीं रहनी चाहिए। कदाचित् गृहस्थ के पास रह गयी हो, तो साधु को प्रायश्चित आता है। भूल से रह जाने पर साधारणतया एक रात्रि का एक उपवास प्रायश्चित में दिया जाता है।

**प्रश्न-81 :** यदि कोई बड़ा साधु अपने साथ के अन्य साधुओं से कहे कि यह प्रतिलेखन आदि कार्य इस प्रकार से नहीं, इस प्रकार करना चाहिए, तो वह अन्य साधु से इस प्रकार कह सकता है, कि आप इस प्रकार क्यों कहते हैं ? जो जैसा करेगा, वैसा पायेगा यानि आपके इस प्रकार फरमाने पर कषाय की वृद्धि होती है, इसलिए आपको इस प्रकार नहीं कहना चाहिए।

**उत्तर :** छोटे अथवा बड़े संत को किसको क्या कहना, कैसे कहना, कितना कहना, इसका विवेक रखना चाहिए। अन्यथा यदि कषाय वृद्धि होने की संभावना हो, तो वहाँ तटस्थ रहना ही उपयुक्त रहता है तथा कर्तव्य पालन की दृष्टि से अनुशास्ता को उसकी जानकारी दे देनी चाहिए।

**प्रश्न-82 :** साधु मलमल का चोलपट्टा पहनकर स्थानक के बाहर जा सकता है क्या ?

**उत्तर :** मलमल का चोलपट्टा स्थानक में भी नहीं पहन सकता,

तो स्थानक के बाहर जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

**प्रश्न-83 :** साधु गृहस्थ से सेक कराने की थैली आदि स्थानक में मंगा सकता है क्या ?

**उत्तर :** साधु को सेक कराने की थैली अथवा अन्य कोई भी वस्तु लाचारी अवस्था में बिना गृहस्थ में नहीं मंगानी चाहिए।

**प्रश्न-84 :** बिना मुँहपत्ती संवर किया जा सकता है क्या ?

**उत्तर :** बिना मुँहपत्ती भी संवर किया जा सकता है, पर खुले मुँह नहीं बोलने का विवेक अवश्य रखना चाहिए। बनती कोशिश मुँहपत्ती रखना चाहिए।

**प्रश्न-85 :** यदि कोई कन्दोई मिठाई बेचने हेतु दूसरे गाँव से आये और वह साधु को भावना भाये, तो साधु उसके पास से मोदकादि ग्रहण कर सकता है क्या ?

**उत्तर :** बेचने के निमित्त लायी गयी सामग्री भावना भाने पर व्यवहार शुद्धि के साथ ग्रहण की जा सकती है।

**प्रश्न-86 :** यदि गृहस्थ के यहाँ गर्म पानी के बर्तन में मौसमी आदि का फ्रुट डाला हुआ हो, तो साधु उस मौसमी आदि को गर्म पानी को ग्रहण कर सकता है या नहीं तथा यदि गृहस्थ बहराने के लिए उस बर्तन के हाथ लगा दे, तो घर असुझता होता है क्या ?

**उत्तर :** गर्म पानी में डाल देने मात्र से अखण्ड मौसमी आदि अचित नहीं होती, इसलिए वह सामग्री नहीं ली जा सकती। गृहस्थ के हाथ लगा देने पर घर असुझता करने का प्रसंग रहता है।

**प्रश्न-87 :** दो करण तीन योग के दयाव्रत पालक को घर से आये हुए या अन्य स्थान के भोजन आदि को ग्रहण करना या नहीं ?

**उत्तर :** दो करण तीन योग से दयाव्रत करनेवाला गृहस्थ दयाव्रत में भोजन आदि के लिए किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं कर सकता। परिवारिक सदस्य या अन्य कोई स्वतः ही भोजन ले आये, तो उसका विवेक के साथ उपयोग कर सकता है, क्योंकि उसके मन, वचन, काया से सावद्य कार्य करने एवं करवाने मात्र का त्याग होता है।

**प्रश्न-88 :** नमक कुएँ के पानी में जमता है वह नमक रूप में परिणत होनेवाले तत्त्व अपकाय रूप भी हैं। अतः उन्हें नमक रूप पृथ्वीकाय मानना या खारा पानी रूप अपकाय ?

**उत्तर :** जब तक पानी नमक के रूप में परिणत नहीं होता, तब तक उसे अपकाय के रूप में लेना चाहिए। नमक रूप में परिणत होने पर पृथ्वीकाय के रूप में कहना चाहिए।

**प्रश्न-89 :** नियम है कि प्रतिक्रमण 50 मिनट में होकर प्रत्याख्यान हो जाने चाहिए, लेकिन यदि कोई धीरे-धीरे प्रतिक्रमण करता हो, तो क्या चौथे आवश्यक को पूर्ण किये बिना ही अर्थात् भाववन्दना आदि को छोड़कर पाँचवा आवश्यक तथा छठा आवश्यक पूर्ण करके फिर पाँच पदों की वन्दना दे सकता है क्या ?

**उत्तर :** प्रतिक्रमण कालोकाल ही करना चाहिए तथा जो क्रम है, उसी क्रम से करना चाहिए। कोई धीरे-धीरे भी करता है, तो अगर वह समय पर आज्ञा ले लेता है, तो समय पर पूर्ण कर सकता है। कदाचित् कभी विलम्ब हो जाये, तो उसकी आलोचना की जा सकती है, पर व्युत्क्रम से प्रतिक्रमण करने का विधान नहीं है।

**प्रश्न-90 :** साधु स्थानक में दिन में कम्बल ओढ़ सकता है या नहीं ?

**उत्तर :** आवश्यकतानुसार साधु स्थानक में दिन में कम्बल ओढ़ सकता है।

**प्रश्न-91 :** यदि किसी प्रकार का धोवन गृहस्थ के यहाँ हो और गृहस्थ उस धोवन में लौंग, इलायची इत्यादि बांटकर डाल दे, तो क्या धोवन ही माना जाता है। यदि वह धोवन माना जाता है, तो साधु के लिए कल्पनीय है या नहीं ?

**उत्तर :** धोवन पानी में यदि श्रावक लौंग, इलायची आदि स्वयं के लिए पीस बांटकर डाल देता है, तो वह मर्यादित काल तक धोवन रहता है। सचित नहीं होता। साधु भी ग्रहण कर सकता है। कच्चे पानी में वे वस्तुएँ डाली हों, तो साधु नहीं ले सकता।

**प्रश्न-92 :** जैसे एक व्यक्ति की घास है, दूसरा व्यक्ति उसको लाकर अन्य व्यक्ति के घर पर रख देता है और उस घास को साधु भूल से ले आये, कदाचित् वह घास सदोष ही, तो उसमें से किसका घर असुझता हुआ।

**उत्तर :** साधु के निमित्त दूसरे घर लाकर रखा हुआ सामान साधु को नहीं लेना चाहिए। भूल से लेने में आये और जानकारी हो जाये, तो प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए। घास की सदोषता का जो उल्लेख है, उसका तात्पर्य क्या है ? त्रस जीव युक्त अथवा अनाज के दानों से युक्त। यदि त्रस जीवों से युक्त ही तो घर असुझता नहीं होता है। अनाज आदि से सदोष ही, तो जिसके घर से लाया गया, उसी का घर असुझता समझना चाहिए।

**प्रश्न-93 :** जिस प्रकार स्थंडिल से आकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना होता है, उसी प्रकार जितनी बार पडगा परटे, उतनी बार ध्यान करना चाहिए क्या ?

**उत्तर :** जितनी बार स्थंडिल जाये अथवा लघु नीत आदि परठने का प्रसंग आये, उतनी बार ही ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना चाहिए।

**प्रश्न-94 :** मात्रा-युक्त पडगा कितने मिनट रह सकता है ?

**उत्तर :** लघुनीत आदि संमूर्च्छिम उत्पत्ति होनेवाले पदार्थों में एक मुहूर्त पश्चात् संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बनती कोशिश आधा घण्टा से ऊपर नहीं रखा जाये, तो उपयुक्त है। ऐसी परम्परा है।

**प्रश्न-95 :** स्थंडिल प्रतिलेखन तथा गोचरी आदि का ध्यान एक साथ किया जा सकता है क्या ?

**उत्तर :** ध्यान एक साथ किया जा सकता है।

**प्रश्न-96 :** होटल से साधु पेयादि ला सकता है क्या ?

**उत्तर :** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलतानुसार विवेक वर्तन का प्रसंग है।

**प्रश्न-97 :** पंचायती आयम्बिल शाला, जिसमें देहरावासी के लिए भोजन पानी बनता है, वहाँ का आहार-पानी लेना या नहीं ? यदि

लें, तो सभी घर फरसे हुए माने जायेंगे या नहीं ?

**उत्तर :** जिसमें सभी व्यक्तियों की भागीदारी हो, तो शय्यान्तर की गवेषणा करनी आवश्यक है। यदि उन व्यक्तियों में शय्यान्तर भी सम्मिलित है, तो वह आहार-पानी ग्राह्य नहीं हो सकता एवं दाण्डा, पुण्डा, वणीमड्डा और समण्डा - इन चारों के निमित्त से अर्थ (धन) लगा हो तथा धर्मादा की दृष्टि से भी यदि पैसे लिये जाते हों और वह धर्मादा देनेवाला व्यक्ति या उसके परिवारवाले उसमें भोजन नहीं करते हों, तो वह भी ग्राह्य नहीं।

उपरोक्त दाण्डा के होने पर यदि पंचायती आयंबिल शाला हो और दानदाता भी उसमें से आहार-पानी लेते हों, तो उस आयंबिल शाला से आहार-पानी लिया जा सकता है। वहाँ से लेने में सभी घर फरसे नहीं माने जा सकते। जैसे एक ही व्यक्ति के दुकान और घर अलग-अलग हैं। ऐसी हालत में दुकान पर वस्तु लायी जाये, तो घर फरसा हुआ नहीं माना जाता, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। पर जितने भी व्यक्तियों की भागीदारी हो, उनकी देने के लिए अनुमति हो अर्थात् उन दानदाताओं का अभिप्राय दान देने का रहा हुआ हो, तो लिया जा सकता है।

**दुण्हं तु भुंजमाणं, दोवि तत्थ निमंतए।**

**दिञ्जमाणं पडिच्छिञ्जा, जं तत्थेसणियं भवे।।**

**प्रश्न-98 :** सभी के लिय ढाबा चलता हो, कोई भी आगन्तुक रूपये देकर जीम सकते हों, तो वहाँ का आहार लेना या नहीं ?

**उत्तर :** ऐसे ढाबों में भी दाण्डा पुण्डा आदि न हो और सबसे पूरे पैसे लिए जाते हों तथा साधु को बहराने का पैसा नहीं लिया जाता हो, तो वहाँ का आहार लेने में कोई एतराज नहीं।

**प्रश्न-99 :** साधु वर्षा आदि के कारण-विशेष से स्थानक में किसी के लिए रहे हुए धोवन आदि पदार्थ को ले सकता है क्या ?

**उत्तर :** नहीं ले सकता, क्योंकि स्थानक में धोवन आदि पदार्थ श्रावक, दया आदि विशेष प्रसंग पर ही लाता है और वह मर्यादित सीमा तक ही रहता है। प्रारम्भ में कदाचित् प्रासुक भी हो और कदाचित् किसी

साधु ने एक बार वैसा ले भी लिया, तो श्रावक वर्ग को वैसा ज्ञान हो जाने से कि महाराज स्थानक में लाये गये पदार्थ को भी लेते हैं, तब श्रावक साधु के निमित्त भी ला सकता है। जिसमें आधाकर्मी, सामने लाये हुए आदि दोषों की पूरी संभावना रहती है। इस प्रकार के दोष का रास्ता न बने, एतदर्थ प्रासुक आहार-पानी बस्ती में से संयमी समाचारी के अनुसार ही लेना योग्य रहता है। स्थानक में आहार-पानी कतई नहीं लेना चाहिए।

**प्रश्न-100 :** मुरब्बा या च्यवनप्राश आदि के डिब्बे पूर्ण रूप से बन्द किये हुए हों, तो साधु उसे औषधि आदि के रूप में बन्द का बन्द ले सकता है या नहीं ?

**उत्तर :** औषधि गृहस्थ के घर से खुली लाने में कठिनाई नहीं पड़ती हो, तो उसका बन्द डिब्बा नहीं लेना चाहिए। पर जो औषधि गृहस्थ के यहाँ से खुली लाने में मात्रा आदि का ध्यान नहीं रहा हो, तो वैसी औषधि का बन्द पैकेट भी अपवाद मार्ग में लिया जा सकता है। पर मुरब्बा आदि के बन्द डिब्बे लेना ठीक नहीं है, क्योंकि वह गृहस्थ के यहाँ से आसानी से लाया जा सकता है।

**प्रश्न-101 :** जैसे 4 साध्वियाँ हैं। उसमें से एक के तपस्या है। वह साध्वी पारणा लाने के लिए गृहस्थों के यहाँ भिक्षार्थ पधारें और उसी घर पर जाये, जिस घर से पहले दिन अन्य साध्वियों ने गोचरी ली थी। उस पहले दिन के आहार को तपस्विनी साध्वी ने नहीं लिया, किन्तु अन्य साथ की सतियों ने लिया हो, तो दूसरे दिन वह तपस्विनी साध्वी उस घर के आहार को ग्रहण कर सकती है क्या ?

**उत्तर :** पहले दिन के स्पर्श घर से कारण विशेष से कोई वस्तु लेना आवश्यक हो, तो ली जा सकती है। अन्यथा कोई साध्वी आहार ग्रहण करे अथवा नहीं करे, घर सब के लिए समान रूप से स्पर्शा हुआ माना जाता है, क्योंकि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि एक साथ ही होते हैं। अतः किसी भी साध्वी ने आहार लिया हो, पहले दिन स्पर्शित घर से गोचरी नहीं लानी चाहिए।

**प्रश्न-102 :** हरा शाक आदि मिश्र हो अर्थात् पूर्णरूपेण मिश्र

का विश्वास हो जाये, तो उसे साधु खा सकता है क्या ?

**उत्तर :** हरी सब्जी आदि में मिश्र की शंका हो, तो गृहस्थ के यहाँ पर ही अच्छी तरह गवेषणा कर लेनी चाहिए। कदाचित् गवेषणा के उपरान्त भी भिक्षा में आ गयी हो, तो उसे उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

**प्रश्न-103 :** किसी गृहस्थ के घर में पुस्तकें हो, तो साधु उनको गृहस्थों द्वारा स्थानक में मंगा सकता है क्या ?

**उत्तर :** संतों को यदि पुस्तक की आवश्यकता हो, तो उसे स्वयं ही गृहस्थ के घर से जाँचकर लेनी चाहिए। कदाचित् किसी गृहस्थ को कोई बात पूछनी हो, तो उसके द्वारा लायी हुई पुस्तक देखकर, उसे उत्तर दिया जा सकता है।

**प्रश्न-104 :** साधु गृहस्थ को घड़ी के चाबी लगाने के लिए कह सकता है क्या ?

**उत्तर :** घड़ी आदि में चाबी लगाने के लिए गृहस्थ को नहीं कहना चाहिए। भाषा समिति के अन्तर्गत इस प्रकार कह सकता है कि घड़ी बन्द है या बन्द हो गयी है - आदि।

**प्रश्न-105 :** बच्चे को झूला देती हुई बाई सदोष है या निर्दोष ?

**उत्तर :** झूला झूलती हुई अथवा झुलाती हुई बहिन को असुझती माना जाता है।

**प्रश्न-106 :** जो कपड़ा फटा नहीं है, किन्तु गला हुआ है, उस गले हुए कपड़े को बिना जरूरत के यदि फाड़े, तो साधु को दोष लगता है या नहीं ?

**उत्तर :** बिना काम के चाहे जीर्ण हो अथवा नया, वस्त्र नहीं फाड़ना चाहिए। अजीव काय संयम की स्थिति से ध्यान रखना चाहिए।

**प्रश्न-107 :** यदि किसी कारण विशेष से साधु के पात्र में सचित या मिश्र पानी गृहस्थ बहरा दे, तब मालूम पड़ने पर साधु उस पानी को गृहस्थ को वापस लेने को कहे या परठ दे ? पात्र को पोंछ ले या वैसा ही रखे ?



**उत्तर :** सचित्त अथवा मिश्र पानी पातरे में आने पर जिस गृहस्थ के यहाँ से पानी लिया गया हो, उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि यह पानी हमारे काम नहीं आ सकता, हमको परठाना पड़ेगा। इससे यदि गृहस्थ अपना विवेक वरत लेता है अर्थात् गृहस्थ स्वयं अपने हाथ से वह पानी अपने बर्तन में ले लेता है, तो ठीक अन्यथा उसे परठ देना चाहिए। पात्र को पोंछना नहीं चाहिए, उसको औंधा खड़ा कर देना चाहिए।

**प्रश्न-108 :** गृहस्थादि को साधु-साध्वी इस प्रकार कह सकते हैं क्या कि अमुक पदार्थ खरीदकर ले आओ तथा अमुक को थोड़ी-थोड़ी या अधिक-अधिक प्रभावना बाँट दो ?

**उत्तर :** अमुक वस्तु खरीदकर लो अथवा अमुक वस्तु की प्रभावना बाँटो - आदि सावद्य भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी के लिए वर्जनीय है।

**प्रश्न-109 :** साधु छींके में पड़ी हुई वस्तु को ग्रहण कर सकता है क्या ?

**उत्तर :** छींके पर रखी हुई वस्तु साधु को उतरवाकर नहीं लेनी चाहिए।

**प्रश्न-110 :** सूर्यास्त के समय दवादि पडिहारी वस्तु गृहस्थ को संभलाते समय यदि गृहस्थ सामायिक आदि से युक्त हो, तो साधु दवादि को संभला सकता है क्या ?

**उत्तर :** दवादि पडिहारी वस्तुएँ बनती कोशिश जहाँ से लायी गयी हों, वहीं भोलानी चाहिए। कदाचित् सूर्यास्त का समय नजदीक आ गया हो और पडिहारी वस्तु के स्वामी की आज्ञा अन्य किसी को भी भोला देने की हो, तो सामायिक आदि में स्थित गृहस्थ को भी पडिहारी वस्तु भोलाई तो जा सकती है।

**प्रश्न-111 :** यदि कोई पुस्तक पडिहारी मँगवायी गयी हो, लेकिन वह पुस्तक फटी हुई हो, वैसी स्थिति में साधु उस पुस्तक को ठीक करने की भावना रखे तथा उस पुस्तक को ठीक करने के लिए

कपड़े की आवश्यकता हो, तो क्या साधु अपनी नेश्राय में रहे हुए वस्त्र को पुस्तक के लगा सकता है ?

**उत्तर :** साधु पडिहारी पुस्तक लाया हो और वह फट गयी हो, तो साधु अपने पास का थोड़ा वस्त्र लगाकर उस ज्ञानवर्धक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता है, क्योंकि उस समय वह पुस्तक उसके नेश्राय में है। यदि साधु की नेश्राय में नहीं हो, तो जब तक नेश्राय में नहीं ले ली जाये, तब तक उसको ठीक नहीं कर सकते हैं।

**प्रश्न-112 :** कोई अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी भगवन से मन से प्रश्न पूछे और मन से ही उत्तर प्राप्त करे, तो कैसे ?

**उत्तर :** अवधिज्ञानी के मन से प्रश्न पूछने पर सर्वज्ञ प्रभु अपने मनोद्रव्य की तदनु रूप रचना करते हैं, जिससे सर्वज्ञ प्रभु के मनोद्रव्य को देखकर अनुमान से अवधिज्ञानी अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेता है।

**प्रश्न-113 :** पाँच प्रकार की लीलन-फूलन यदि सूखी हुई हो, तो अटकती है या नहीं ?

**उत्तर :** शुष्क लीलन-फूलन अचित होने से उसका अटकाव नहीं आता।

**प्रश्न-114 :** गर्मी में पसीने के कारण शरीर व वस्त्रों पर जो फूलन आती है, वह सचित है या अचित ?

**उत्तर :** पसीने के कारण गीली चादर के सूखने पर कभी-कभी जो दाग दीखते हैं, वह तो पसीने के खार के कारण होते हैं। उसके अतिरिक्त यदि पसीना, पानी एवं मिट्टी आदि के मिश्रण एवं अविवेक से फूलन हो, तो वह सचित हो सकती है।

**प्रश्न-115 :** चौमासे में वस्त्र, पात्र, रजोहण आदि के सिवाय और क्या-क्या नहीं ले सकते अर्थात् पेन, कापी, पुड्डे, स्याही आदि ग्रहण कर सकते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** जिस भी वस्तु में सूत, ऊन आदि लगे हुए हों, उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। कापी में भी यदि कपड़ा लगा हुआ हो, तो वह नेश्राय में नहीं लेना चाहिए। पडिहारी रूप से कपड़ेवाली पुस्तक आदि

ली जा सकती है। प्लास्टिक लेना भी उपयुक्त नहीं है। पातरे यदि सूत के बन्धन से रहित हों, तो लिये जा सकते हैं।

**प्रश्न-116 :** पहले दिन फरसे हुए घर से यदि दूसरे दिन भी भूल से आहार ले आये और लाने के बाद यह याद आये या मालूम पड़े, तो उस फरसे हुए आहार को परठना चाहिए या खा लेना चाहिए तथा यदि भूल से खाने में आ गया हो, तो क्या प्रायश्चित्त आता है?

**उत्तर :** गोचरीवाले को विवेक रखना चाहिए कि कल का स्पर्शा हुआ घर नहीं स्पर्शा जाये। कदाचित् भूल से स्पर्श लिया गया हो, तो उसका एक उपवास प्रायश्चित्त आता है। अन्य आधाकर्मी आदि सबल दोषों के अभाव में उसे परठने की आवश्यकता नहीं रहती।

**प्रश्न-117 :** यदि दर्शनार्थी को आये एक सप्ताह नहीं हुआ हो, तो भी मंजन, एनीमा आदि ले सकते हैं क्या ?

**उत्तर :** दर्शनार्थ आगन्तुक महानुभावों से असणं पाणं आदि खाद्य सामग्री आठ दिन पूर्व नहीं लेनी चाहिए। आठवें दिन लेना चाहें, तो जैसा अवसर हो, सोच सकते हैं। अन्य औषधि के रूप में सामग्री यदि अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो, तो कारण विशेष से उसे ग्रहण किया जा सकता है।

**प्रश्न-118 :** सन्त किसी गृहस्थी के घर पर पहुँचे, उस समय तवे पर रोटी पक रही है, बहिन का हाथ तवे पर नहीं है, उस समय क्या सन्त ऐसा कह सकते हैं कि मैं दरवाजे पर खड़ा हूँ तुम तुम्हारा अवसर देख लो ?

**उत्तर :** तवे पर रोटी हो और बहिन से उसका संघट्टा नहीं भी होता हो, तब भी संतों को कहना नहीं कल्पता कि मैं दरवाजे पर खड़ा हूँ तुम अपना अवसर देख लो। ऐसा कहने से कराना एवं अनुमोदन का मनसा-वाचा दोष लगता है।

**प्रश्न-119 :** जो सन्त केले का संघट्टा मानते हैं, वो सन्त या सती केले का पाना ले सकते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** पका केला वृहत्कल्प सूत्र के अनुसार ब्राह्म है। जो इसे

सचित मानते हैं, उनकी यह धारणा आगम सम्मत नहीं कही जा सकती। यदि कदाचित् कोई स्वेच्छाचार से केले को सचित मानता है, तो केले के केवल टुकड़े हो जाने मात्र से उसे ग्रहण नहीं कर सकते और न ही उस पर शक्कर आदि डालने मात्र से ग्रहण कर सकते हैं।

**प्रश्न-120 :** बर्तनों को मांजकर धोने से जो धोवन हुआ है। उस धोवन पानी को किसी मटकी में रखा हुआ है, तो मटकी में रखा हुआ ग्रहण करना या नहीं ?

**उत्तर :** धोवन पानी यदि बर्तन आदि मांजकर धोया हो और किसी भी बर्तन में रखा हुआ हो, उस बर्तन पर फूलन आदि न हो, तो उसे साधु अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कर सकते हैं। मटके में रख दिया, इसलिए ग्रहण नहीं करना आगम संगत नहीं लगता।

**प्रश्न-121 :** देशावकाशिक व्रत और खाते-पीते पौषध में कौन से पाठ का अन्तर है ?

**उत्तर :** देशावकाशिक व्रत का देशावकाशिक व्रत की पाटी से प्रत्याख्यान किया जाता है तथा खाते-पीते पौषध का दयाव्रत के पाठ से प्रत्याख्यान किया जाता है। संवर एवं दसवाँ पौषध इन सब का समावेश देशावकाशिक व्रत में ही परम्परा से किया जाता है।

**दिग्ब्रतं यावज्जीवं, संवत्सरं चातुर्मासी परिमाणं वा।**

**देशावकाशिकं तु दिवसं प्रहरं मुहूर्तादिपरिमाणं॥**

अर्थात् दिग्ब्रत यावत् जीवन, संवत्सर अथवा चार माह की अवधि का होता है जबकि देशावकाशिक व्रत दिवस, प्रहर, मुहूर्त परिमाण का भी हो सकता है।

**प्रश्न-122 :** निशिय सूत्र में यह कहा गया है कि जो साधु गृहस्थ के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है, तो उसे मासिक प्रायश्चित आता है, लेकिन साधु के साथ वैरागी साध्वी के साथ वैरागिन, या मार्ग बतलाने के लिए गृहस्थ साथ में रहते हैं, सो कैसे ?

**उत्तर :** निशिय सूत्र में जो गृहस्थ के साथ चलने से प्रायश्चित का कहा है, वह वैरागी अथवा मार्ग बतानेवाले भाई से सम्बन्धित नहीं

है। उसका तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ स्त्री पुरुष आदि परिवार सहित, जैसे देशाटन करते हैं, उस रूप से जो गृहस्थ चलते हैं, ऐसे गृहस्थ के साथ साधु को नहीं चलना चाहिए। अथवा परिवार सहित गृहस्थ को साधु अपने साथ अधिक मंजिल तक नहीं रखे। एकाध मंजिल लाने पहुँचाने कोई जाता हो, तो उसका प्रायश्चित्त नहीं है।

**प्रश्न-123 :** साधु को जो वस्तु रात्रि में रखना नहीं कल्पता, वह वस्तु यदि भूल से रात्रि में साधु के पास रह जाये, तो क्या वह वस्तु दूसरे दिन साधु वापर सकता है ?

**उत्तर :** पेन आदि यदि रात्रि में भोलाना भूल गये हों, तो दूसरे दिन उसकी आज्ञा लेकर उपयोग में लिया जा सकता है, पर औषधि आदि, जो सहज रूप से उपलब्ध है और वह यदि रात्रि में पास रह गयी हो, तो उसका उपयोग नहीं करना चाहिए, उसे परठ देना चाहिए।

जो औषधि भूल से रात्रि को रह गयी हो, वह यदि सहजतया उपलब्ध नहीं हो, तो उसकी आज्ञा लेकर उपयोग में ली जा सकती है। पर ऐसे प्रसंगों की गुरु साक्षी से आलोचना भी कर लेनी चाहिए।

**प्रश्न-124 :** चातुर्मास से भिन्न मकान में रात्रि विश्राम या दिन में नींद लेने से शय्यांतर मानना चाहिए क्या, एवं उस घर की गोचरी का कैसे क्या मानना ?

**उत्तर :** चातुर्मास हो या शेखेकाल हो, जिस मकान की आज्ञा ली है, वह तो उसका शय्यान्तर है ही। यदि उस मकान को छोड़कर अन्य गृहस्थों के निवास रहित मकान में शयन, नींद आदि लेने की प्रक्रिया हो गयी हो, तो उस मकान की जिसकी आज्ञा ली है, वह भी जब तक आज्ञा नहीं छोड़ी जाये, तब तक शय्यान्तर कहलाता है। छोड़ने पर भी उसी गाँव में कुछ दिन रहना हो, तो एक रात बीते बिना उसके घर का आहारादि नहीं लेना चाहिए।

**प्रश्न-125 :** एक ही पक्ष में वृद्धि-हानि हो सकती है क्या ?

**उत्तर :** यदा-कदा तिथियों की एक ही पक्ष में वृद्धि-हानि भी हो सकती है।

**प्रश्न-126:** 32-28-24 कवलाहार को वर्तमान काल में किस रूप में लेना ?

**उत्तर :** कवलाहार का पुरुष के लिए 32 कवल व स्त्री के लिए 28 कवल का उल्लेख है। इसकी व्याख्या अलग-अलग तरह से की जाती है।

1. जितनी जिसकी खुराक हो उस खुराक को खाने के लिए सभी वस्तुओं को एक साथ मिलाकर 32 अथवा 28 विभाग करके ग्रहण करना।

2. जितना मुँह में एक साथ लेकर के खाया जा सके, उसको एक कवल गिनना।

3. स्वाभाविक रूप में जो कवल मुँह में रखे जाते हैं, वैसे 32/28 कवल ग्रहण करना।

मुँह के अन्दर का कवल पहले उदरस्थ हो जाने पर द्वितीय कवल लेना चाहिए।

**प्रश्न-127 :** तिर्यच को अवधिज्ञान होता है। कौन से तिर्यच को हुआ ?

**उत्तर :** भगवती सूत्र शतक 8 एवं पन्नवणा सूत्र पद 33 में तिर्यच पंचेन्द्रिय को मति, श्रुत, ज्ञान के अतिरिक्त अवधि ज्ञान होना भी बतलाया है। पर किस तिर्यच को अवधिज्ञान हुआ, इसका उल्लेख देखने में नहीं आया।

**प्रश्न-128 :** तीर्थकर भगवान के पार्थिव शरीर का क्या होता है ?

**उत्तर :** तीर्थकर भगवान के पार्थिव शरीर का देव दाह-संस्कार कर देते हैं तथा जो राख, हड्डी आदि अवशेष रह जाते हैं, उसे क्षीर समुद्र में ले जाकर बहा देते हैं।

**प्रश्न-129 :** लोगस्स का पाठ शाश्वत है अथवा अशाश्वत ?

**उत्तर :** लोगस्स के मूल भाव शाश्वत हैं। प्रत्येक तीर्थकरों के समय में उसकी परिणति होती है तथा ऐसी भी धारणा है कि अमुक तीर्थकर के समय तक जितने तीर्थकर होते हैं, उन-उन का उसमें नाम संयुक्त कर दिया जाता है। जैसा कि भद्रबाहु स्वामी ने 24 तीर्थकर हो

जाने से 24 तीर्थकरों का नाम इस उत्कीर्तन में संयुक्त किया।

वैसे ही अन्यान्य तीर्थकर के समय समझना चाहिए। परन्तु भावी के तीर्थकरों का अथवा अन्य अवसरिणी अथवा उत्सर्पिणी काल के तीर्थकरों का लोगस्स में नाम संयुक्त नहीं किया जाता।

अनुयोग द्वार में इसका उत्कीर्तन नाम आया है। पर वर्तमान लोगस्स में चौबीस तीर्थकरों की स्तुति होने से इसे चतुर्विंशती-स्तव कहा जाने लगा है।

**प्रश्न-130 :** तिथि क्षय हो, तो उस दिन के व्रत-प्रत्याख्यान किस दिन पालना चाहिए, एक दिन पूर्व या उसी दिन ?

**उत्तर :** ज्योतिष पंचांग के अनुसार जो तिथि क्षय होती है, उसका उपभोग उसकी पहली तिथि में हो जाता है तथा यदि अष्टमी का क्षय हुआ हो, तो उस अष्टमी का सप्तमी के दिन घड़ियों की दृष्टि से उपभोग हो जाता है। तदनुसार प्रत्याख्यान के विषय में भी सोचना उपयुक्त रह सकता है।

**प्रश्न-131 :** अलमारी में रखे हुए रंग-पेंट संत अपने निमित्त से श्रावक से ताला खुलवाकर स्थानक के लिए रखी हुई वस्तु को कार्य में ले सकते हैं क्या ?

**उत्तर :** रंग-वार्निश अथवा अन्य कोई भी वस्तु उत्सर्ग मार्ग में साधु को तालादि खुलवा कर नहीं लेना चाहिए। स्थानक के निमित्त आयी हुई वस्तु जो साधु मर्यादा के अन्तर्गत हो और पुरुषान्तर हो गयी हो, तो स्थानक के अधिकारी की आज्ञा से ग्रहण की जा सकती है।

**प्रश्न-132 :** संतों के लिए पाट इत्यादि श्रावक द्वारा ठेलों में लाये जाने पर उपयोग में ले सकते हैं क्या ?

**उत्तर :** संतों के शहर में प्रवेश करने के पश्चात् अथवा पूर्व में कभी भी यदि संतों के निमित्त से पाट-पाटले एक स्थान से अन्य स्थान पर रखे जाते हों, तो संतों को उनका उपभोग नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् संतों को इसकी जानकारी नहीं हो, तो उनको ध्यान दिला देना चाहिए।

**प्रश्न-133 :** संतों के पधारने के एक दिन पूर्व आँगन लिपवाये जाने पर संतों द्वारा उसका उपयोग लेना कल्पता है या नहीं ?

**उत्तर :** स्थानक अथवा अन्य स्थान के आँगन आदि को लिपवाने के बाद यदि वह पुरुषान्तर हो जाता है, तो सन्त वहाँ अपनी मर्यादानुसार ठहर सकते हैं। यदि पुरुषान्तर नहीं हुआ हो, तो उसका उपभोग नहीं करना चाहिए। पुरुषान्तर का तात्पर्य यह है कि लिपवाने के बाद श्रावक वर्ग द्वारा सामायिक, संवर एवं उठना-बैठना हो जाना।

**प्रश्न-134 :** मक्खन छाछ में नहीं हो, काफी समय से अलग बर्तन में पड़ा है। उसको हाथ लगाकर हटा दें, तो घर असुझता होता या नहीं ?

**उत्तर :** मक्खन छाछ से अलग रहता हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि उसके कोई हाथ लगा दे अथवा इधर-उधर हटा दे, तो वैसी स्थिति में मक्खन को ग्रहण नहीं किया जाता। घर भी असुझता नहीं किया जाता - ऐसी पूर्व परम्परा है।

**प्रश्न-135 :** यदि किसी परिस्थिति विशेष से साधु के पात्र में सचित या मिश्र पानी गृहस्थ बहरा देवे। बाद में मालूम पड़ने पर यह पानी आप ले लो - ऐसा गृहस्थ को संकेत दे सकते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** सचित या मिश्र पानी के लिए यह कह सकते हैं कि पानी हमारे उपयोग में नहीं आयेगा। इसका संघट्टा लगने से हम प्रायश्चित भी लेंगे तथा हमें परठना पड़ेगा। तब कोई गृहस्थ यह कहे कि मैं इसे वापस अपने भाजन में ले लूँ। तब यह कह सकते हैं कि जैसा आप उचित समझें। वे अपने पात्र में स्वयं ले लें, तो ठीक, अन्यथा साधु को यह नहीं कहना कि तुम इसे योग्य प्रासुक स्थान पर परठ दो। साधु को स्वयं उसे योग्य स्थान पर परठ देना चाहिए और आलोचना करके प्रायश्चित कर लेना चाहिए।

**प्रश्न-136 :** साधु स्थानक या कमरे का झाड़ू निकालने के लिए कह सकता है क्या ?

**उत्तर :** सिर्फ साधु के काम में आनेवाले स्थान का साधु को स्वयं परिमार्जन रजोहरण से कर लेना चाहिए। बहुलता से श्रावक-



श्राविका वर्ग के काम आनेवाले स्थान को साफ रखने का विवेक गृहस्थ-श्रावक वर्ग के कर्तव्य क्षेत्र में है। इस विषय में श्रावक वर्ग प्रायः सचेष्ट रहता ही है- कदाचित् किसी स्थल पर लापरवाही साधु देखे और उसको ज्ञात हो कि इसमें जन्तुओं की उत्पत्ति सम्भावित है, उन जन्तुओं की उत्पत्ति के पहले ही अपनी मर्यादित भाषा में गृहस्थ को विवेक दिला सकता है।

**प्रश्न-137 :** रूपी-अरूपी के स्तोक में 18 पाप (अशुभ कर्म होने से) चतुःस्पर्शी बताये गये हैं, तो पुण्य (शुभ कर्म होने से) में कितने स्पर्श होते हैं ?

**उत्तर :** पुण्य के दो भेद हैं-भाव पुण्य और द्रव्य पुण्य तथा कारण पुण्य और कार्य पुण्य।

भाव पुण्य आत्मा का शुभ अध्यवसाय है, उन शुभ अध्यवसायों से आत्मा के साथ संयुक्त होनेवाला पुण्य कर्म द्रव्य पुण्य है।

कारण पुण्य के दो भेद हैं- अनन्तर कारण और परम्परा कारण। आत्मा का शुभ अध्यवसाय अनन्तर कारण है और परम्परा कारण अन्नादिक नव प्रकार है।

कार्य पुण्य-आत्मा से संयुक्त शुभकर्म रूप द्रव्य तथा उसका फल।

उपर्युक्त पुण्य के भेदों में शुभकर्म रूप आत्मा से संयुक्त जो पुण्य फल देने योग्य द्रव्य कर्म है, वह चतुःस्पर्शी है और संसारी आत्माओं में पाता है।

**प्रश्न-138 :** गुणस्थान द्वार में अविरत सम्यक् दृष्टि को अधर्मी, अपण्डित, अधर्म व्यवसायी आदि कहा गया है, जबकि वह मोक्ष मार्गी है। प्रतिक्षण उसके संवर-निर्जरा भी है। तत्वादि का यथार्थ श्रद्धान व भूमिकानुसार आचरण भी है। फिर उसे निन्दनीय क्यों कहा ?

**उत्तर :** आपने सम्यक्त्वी के लिए जो विशेषण लिखे हैं, वे विशेषण थोकड़ों की पुस्तकों में एक से लगाकर चौथे गुणस्थान के प्राणियों तक के लिए हैं। यह किस आशय के लिए आये हैं, यह तो लेनेवाले के अभिप्राय पर निर्भर है, किन्तु सामान्य रूप से चौथे

गुणस्थान तक का कथन कर दिया हो और यह सोचा हो कि जब इसका वर्णन करेंगे, तब चौथे गुणस्थान तक की स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। जो कुछ भी अभिप्राय रहा हो, यह विशिष्ट ज्ञानियों के ज्ञान का विषय है।

अस्तु, बीकानेर सेठिया ग्रन्थालय से प्रकाशित गुणस्थान-द्वार की पुस्तक में सामान्य रूप से उल्लेख कर नीचे टिप्पणी देते समय विशेष उल्लेख किया है कि- “इस द्वार में गुणस्थान का तात्पर्य उस गुणस्थानवाले जीव से है। जैसे पहले गुणस्थान में आठ बोल पाते हैं। इसका मतलब यह है कि गुणस्थानवाले जीव में आठ बोल पाते हैं।”

इस बात की पुष्टि लुधियाना से प्रकाशित दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र-छट्टी दशा में मिथ्यात्व का विशेष वर्णन करते हुए लिखा है कि “आत्मा मिथ्या दृष्टि होकर किस प्रकार पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति करता है-”से भवति महिच्छे महारंभे.....अहम्मेणं चैव वित्ति कप्पमाणे विहरइं।

मूलार्थ :- “वह नास्तिक अतिलालसावाला, महान आरम्भ करनेवाला, अधिक परिग्रहवाला, अधार्मिक, अधर्मानुगामी, अधर्म सेवी, अधर्मिष्ठ, अधर्म में प्रसिद्धिवाला, अधर्मानुरागी, अधर्म देखनेवाला, अधर्म से आजीविका करनेवाला, अधर्म के लिए पुरुषार्थ करनेवाला और अधार्मिक शील-सदाचारवाला होता है तथा अधर्म से ही आजीविका करता हुआ विचरता है।” पृ. 181

इसके अगले पृष्ठों में देसनं पडिमा अर्थात् सम्यक्त्व प्रकरण में कहा है-

“सव्वधम्मसइया विभवति तरस्सणं बहूइं.....एवं दंसणपडिमा उवासग्गपडिमा।”

मूलार्थ- प्रथम दर्शन पडिमा में धर्म विषयक रूचि होती है, किन्तु उससे बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण प्रत्याख्यान, पौषधोपवास सम्यक्त्वतया आत्मा में स्थापना नहीं किये होते हैं। इस प्रकार उपासक की पहली दर्शन प्रतिमा होती है। पृ. 217

ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में भी श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का

जो उल्लेख है, उसमें सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा को श्रुत धर्म माना गया है और वह सम्यक् दृष्टि में भी पाया जाता है। इससे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को एकान्त अधर्मी आदि के रूप में मानना योग्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सम्यक् दृष्टि भाव मोक्ष अवस्था की प्रथम भूमिका है। यदि प्रथम भूमिका को एकान्त अधर्मादि में मान लिया जाये, तो मूल में ही भूल का प्रसंग आ सकता है।

**प्रश्न-139 :** चवदहवें गुणस्थान में योग क्रिया शान्त है, तो फिर वहाँ भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी है ?

**उत्तर :** चतुर्दश गुणस्थानवर्ती आत्मा एक दृष्टि से केवल ज्ञान, केवल दर्शन एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों के साथ सम्यक्त्व की पराकाष्ठा पर होती है। अतः उस समय वेदनीय कर्म की प्रकृतियों का भी उदय माना गया है। वह उदय तो मुख्यतया शरीर पर अपना प्रभाव दिखाता ही है, परन्तु उस परिपूर्ण अवस्था की विशुद्धि पर रहनेवाली आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों में बाधा नहीं पहुँचा सकता। जैसे छद्मस्थ आत्मा का उपयोग उधर न जाये अथवा समभाव से सहन करे, तो उसका अनुभव कम या नहींवत् होता है। वैसे ही ऊपर के गुणस्थानों में भी यही बात समझनी चाहिए, क्योंकि गजसुकुमार मुनि आदि को भी अन्तिम समय में वेदनीय कर्म का प्रादुर्भाव हुआ था। वेदनीय कर्म उदय में आते हुए रुक नहीं सकते। अतः चतुर्दश गुणस्थानवर्ती आत्माओं में वेदनीय कर्म का उदय भी होता है।

दूसरी बात चतुर्दश गुणस्थान में सर्वथा योग क्रिया प्रारम्भ में शान्त नहीं है। अतः उसमें शीत, उष्णादि परीषह उत्पन्न होने में कोई बाधा जैसी बात नहीं है।

**प्रश्न-140 :** द्रव्य और तत्त्व में वास्तविक अन्तर क्या हैं ?

**उत्तर :** एक दृष्टि से द्रव्य और तत्त्व एकार्थक पर्यायवाची शब्द हैं। तदपि सूक्ष्मता से चिन्तन किया जाये, तो अविवक्षित पर्यायवाले पदार्थ को तत्त्व कहा जा सकता है और विवक्षित पर्यायवाले पदार्थ को द्रव्य की संज्ञा दी जा सकती है। प्रचलित व्यवहार में धर्मास्तिकाय आदि

6 द्रव्य को द्रव्य रूप में एवं 9 तत्त्व को तत्त्व रूप में कहा गया है।

नव तत्त्व में धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात् ग्रहण नहीं किया गया है और षट् द्रव्य में नव तत्त्व का विस्तृत ग्रहण नहीं है, तथापि गौण रूप में एक-दूसरे के प्रसंग से एक-दूसरे का समावेश हो जाता है।

**प्रश्न-141 :** प्रत्येक वस्तु में कितने निक्षेप एक साथ पाये जाते हैं और कौन-कौन वन्दन-पूजन के योग्य हैं ?

**उत्तर :** प्रत्येक चेतन व जड़ वस्तु में यथार्थ विवेचन के समय चार निक्षेप पाये जाते हैं। यथा- नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव। नाम से जीव, स्थापना से असंख्यात प्रदेशी जीव की अवगाहना, द्रव्य से असंख्यात प्रदेशी जीव द्रव्य तथा भाव से उपयोगादि चैतन्य गुण।

पुद्गल से निर्मित वस्तु में भी चारों निक्षेप पाये जाते हैं। यथा- नाम से पाट, स्थापना से पाट का आकार, द्रव्य से लकड़ी, भाव से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं बैठने की योग्यतादि।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में चारों ही निक्षेप घटाये जा सकते हैं। भाव सहित चारों निक्षेपों का एक ही वस्तु में पाना यथार्थ वस्तु-स्वरूप प्रतीक है। भाव रहित तीन निक्षेप वस्तु स्वरूप के यथार्थ द्योतक नहीं हो सकते और चारों ही निक्षेप एक दूसरे से निरपेक्ष हो, तो उन निक्षेपों का कोई मूल्य नहीं है। स्पष्टता से कहा जाये, तो तीनों निक्षेप भाव निक्षेप के पूरक हैं।

वन्दनीय, पूजनीय अवस्था चैतन्य से सम्बन्धित है। वन्दनीय स्वरूप को चैतन्य आत्मा ही जानता है, जड़ नहीं। अतः वन्दन चारित्र प्रधान चैतन्य को ही होता है। भाव निक्षेप के अभाव में नाम आदि तीनों निक्षेप संयुक्त रूप से व पृथक् रूप से यथार्थ स्वरूप के द्योतक न होने से वन्दनीय, पूजनीय नहीं हैं।

**प्रश्न-142 :** मनुष्य की 14 लाख योनियों की गिनती किस प्रकार की गयी है ?

**उत्तर :** मनुष्य 700 प्रकार के माने जाते हैं। उसमें 14 लाख योनियाँ फलित होती हैं। वे इस प्रकार हैं- 700 प्रकार के मनुष्य पाँच

वर्णवाले होने से  $700 \times 5 = 3500$  भेद हुए। 3500 ही सुगन्ध - दुर्गन्धवाले भी होते हैं। अतः  $3500 \times 2 = 7000$  भेद हुए। पाँच रसवाले होने से  $7000 \times 5 = 35000$  और 8 स्पर्शवाले होने से  $35000 \times 8 = 280000$  तथा 5 संठाणवाले होने से  $280000 \times 5 = 1400000$  लाख योनियाँ मनुष्य की होती हैं।

**प्रश्न-143 :** लज्जा को ढक लेना परीषह है या लज्जा को जीतना परीषह है ?

**उत्तर :** लज्जा आन्तरिक भावों से सम्बन्धित अवस्था है। उस अवस्था को केवल ढक देने मात्र से ही जीतना नहीं है, बल्कि उस अवस्था को ज्ञान दृष्टि से संशोधित करना भी जीतना है।

आच्छादन तो शरीर का सम्भव है, जो आवश्यक है, क्योंकि वस्त्र रहित शरीर से लज्जा के वैभाविक भाव पैदा होते हैं। वे आच्छादन से अर्थात् वस्त्र सहित शरीर से नहीं होते, बल्कि शमन होने में सहायक होते हैं।

यथा नवीन आश्रवों को रोककर पुराने आश्रवों को शमित किया जाता है, वैसे ही वस्त्र सहित अवस्था से नवीन लज्जा का प्रादुर्भाव नहीं होता और पूर्व में कई प्रसंगों से संचित लज्जा के भावों का शमन होता है।

एतदर्थ-लज्जा पैदा करनेवाले कारणों को आच्छादित करना अर्थात् ढकना एवं लज्जा के भावों को ज्ञान द्वारा संशोधित करना लज्जा परीषह जीतना है।

**प्रश्न-144 :** परपाखण्ड प्रशंसा, परपाखण्ड संस्तव का सम्बन्ध किसी मिथ्या मत या संप्रदाय से हो, तो उनका नामोल्लेख किया जाये ?

**उत्तर :** वीतराग दशा की अवस्था से भव्यों के कल्याणार्थ प्ररूपित व्रत-प्रत्याख्यान आदि आत्म शुद्धि हेतु जो स्वीकार करता है, वह आश्रव को रोककर पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करता है अर्थात् पाप कर्मों को आत्मा से विलग करता है।

उक्त विवेचन के अनुसार सम्यक् ज्ञानपूर्वक आचरण द्वारा पापों को खण्डित करनेवाला पाखण्डी कहलाता है। वस्तुतः स्व आत्म स्वरूप को प्राप्त करनेवाला होने से स्व पाखण्डी कहलाता है।

किन्तु जिन व्यक्तियों को वीतराग धर्म के माध्यम से वस्तुतः मोक्ष प्राप्ति का मार्ग नहीं मिला है, पर उनकी अन्तरात्मा मोक्ष के लिए लालायित रहती हैं और सही मार्ग के अभाव में एकान्तवादी या स्वर्ग को ही मोक्ष माननेवाली परम्पराओं के प्रसंग से व्रत प्रत्याख्यान भी कर लेते हैं, उनसे वस्तुतः मोक्ष को प्राप्त न होकर पुण्य के प्रसंग से स्वर्गादि की प्राप्ति हो सकती है।

पर वे व्यक्ति मिथ्या मतवाले होते हुए भी अपने आप में यह समझते हैं कि हमने पापों को खण्डित (विलग) करनेवाले प्रत्याख्यान कर रखे हैं। एतदर्थ वे भी पाखण्डी तो कहलाते हैं, किन्तु वह अवस्था वीतराग दशा-रूप स्वरूप को प्राप्त कराने की अपेक्षा भौतिक सुख रूप वैभाविक सुख का कारण होने पर पाखण्डी कहलाती है।

सम्यक् श्रद्धावाला सच्चा साधक ऐसे पर पाखण्डी की प्रशंसा एवं संस्तव करता है, तो इससे लगता है कि वह भी उसका अनुयायी बनता है तथा वीतराग देव के मार्ग से भटक कर भौतिक (पौद्गलिक) प्राप्ति की ओर लगता है, जो कि उस आत्मा के लिए अहितकार है। अतः सम्यक् मतिवाले साधक को मिथ्या मतिवाले साधक से दूर रहना श्रेयस्कर है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- “**विवज्जना बालजणस्स दूरा**”।

जो भी सम्प्रदाय एकान्त रूप से स्वमन कल्पित मिथ्यामत का पोषण करने के लिए हठाग्रह के साथ प्रचलित है, उसको पर पाखण्ड की श्रेणी में समझा जा सकता है, चाहे वह कोई भी सम्प्रदाय क्यों न हो।

**प्रश्न-145** : मिथ्या दृष्टि जीवों में भी ब्रह्मचर्य, संयम, तप, त्याग, सरलता आदि गुण दिखलायी देने पर गुण की अपेक्षा से वह पूजनीय है या नहीं ?

**उत्तर** : पूजनीय के दो अर्थ किये जा सकते हैं। एक - जो वीतराग प्ररूपित मोक्ष मार्ग में गमन करनेवाला संयमी विशिष्ट पुरुष है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से पूजनीय एवं वंदनीय है। दूसरा - जो एकान्त मत के पकड़पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि गुणों को जीवन में स्थान देता है। वह लौकिक दृष्टि से वंदनीय, पूजनीय माना जाता है। पर उसकी दिशा सही

न होने से वीतराग देव के मोक्ष स्वरूप की दृष्टि से वंदनीय नहीं हो सकता।

**प्रश्न-146 :** सम्यक्दृष्टि को त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होता, तो क्या वह सप्त कुव्यसन आदि लोक विरुद्ध पाप कार्यों का भी सेवन करता है ? यदि करता है, तो उसकी भूमिका के विरुद्ध तो नहीं है?

**उत्तर :** सप्त कुव्यसन का सेवन नहीं करना सम्यक्त्व की भूमिका के अन्तर्गत है। अतः सम्यक्त्वी को सप्त कुव्यसन का सेवन नहीं करना चाहिए। जिस व्यक्ति में सप्त कुव्यसन का सेवन है, उसमें सम्यक्त्व की न्यूनता समझनी चाहिए। एकान्ततः सम्यक्त्व का अभाव नहीं, क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध दशा सूत्र 17 में सम्यग्दृष्टि के लिए महारम्भी, महापरिग्रही विशेषण भी आया है।

**प्रश्न-147 :** आत्मा और भाव मन में क्या अन्तर है ? यदि दोनों एक हैं, तो अरिहंत व सिद्धों में क्यों नहीं होता ? यदि दोनों भिन्न हैं और भाव मन पर द्रव्य मन है, तो उसे अपने वश में क्यों करना चाहिए ?

**उत्तर :** भाव मन आत्मा की शक्ति विशेष है और भाव मन और आत्मा अपेक्षा से गुण-गुणी की तरह भिन्न भी है और अभिन्न भी। भाव मन रूप शक्ति विशेष अरिहंत की अवस्था के पहले वैभाविक परिणति से परिणत होने के कारण उस शक्ति विशेष का विकृत रूप अनुभव में आता है, किन्तु जब घनघाती कर्म आत्मा से विलग हो जाते हैं, तब उसे शक्ति विशेष का पृथक् अनुभव नहीं होता। यही बात सिद्ध अवस्था में भी समझनी चाहिए।

द्रव्य मन पौद्गलिक संरचना है और यह (द्रव्य मन) भाव मन की शक्ति से ही कार्यकारी होता है। द्रव्य मन के अभाव में भाव मन लम्बे चौड़े संकल्प-विकल्प आदि नहीं कर सकता।

अतएव एक दृष्टि से भाव मन, द्रव्य मन, के आधीन कहा जा सकता है। भाव मन जिसका जितना संशोधित होता जाता है, उतना-उतना द्रव्य मन नियंत्रित होता जाता है।

केवली अवस्था में स्वयं के संशोधन हेतु द्रव्य मन की उपयोगिता

नहीं रहती, क्योंकि वहाँ घनघाती कर्म के अभाव में आत्मा की परिपूर्णता प्रकट हो जाती है।

केवली अवस्था में वाणी के माध्यम से पर कल्याणार्थ उपदेश में आ सकता है, पर स्वयं के लिए आवश्यक न होने से द्रव्य मन की कैवल्यवस्था में गिनती नहीं होती।

भाव मन के न्यूनाधिक रूप में अशुद्ध रहने पर कल्पनाओं पर नियंत्रण नहीं होने से मानों द्रव्य मन, भाव मन के ऊपर है, ऐसा भासित होता है, किन्तु वस्तुतः द्रव्य मन को भाव मन की विशुद्धि के साथ नियंत्रित किया जा सकता है।

**प्रश्न-148 :** आत्म प्रदेशों पर लगे हुए सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाने पर वे प्रदेश दीपक के प्रकाशवत् सारे लोकाकाश में क्यों नहीं फैल जाते ? अन्तिम शरीर के कुछ प्रमाण करके क्यों रहते हैं ?

**उत्तर :** आत्म प्रदेश में कंपन, संकोचन, प्रसारण पर-पदार्थ के निमित्त से प्रायः बनता रहता है। पर पदार्थों के सर्वथा विलग हो जाने पर संकोचन, प्रसारण आदि कार्य नहीं होते, क्योंकि ये कार्य पर निमित्तापेक्ष हैं। अतः सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाने पर आत्म प्रदेशों की शरीर के अनुपात से जो अवगाहना बनती है, वह स्वाभाविक स्थिरता को प्राप्त हो जाती है तथा आत्म प्रदेश परस्पर सापेक्ष होते हैं। इसलिए वे सारे लोकाकाश में बिखर नहीं सकते।

**प्रश्न-149 :** स्थानकवासी समाज द्रव्य पूजा मानता है या नहीं ? यदि मानता है, तो उसका स्वरूप किस आगम के अनुसार किस प्रकार मान्य है ?

**उत्तर :** स्थानकवासी समाज पदार्थों से होनेवाली द्रव्य पूजा नहीं मानता। पर आत्मिक विकास हेतु अपने से चारित्रादि विशिष्ट गुण निष्पन्न व्यक्ति का आदर, सत्कार, सम्मान, वन्दनादि करने में तत्पर रहता है। भाव शून्य वन्दन को उपचार से द्रव्य पूजा माना जा सकता है।

**प्रश्न-150 :** शहद व मधु को माँस व मदिरा की भाँति महा विगय माना गया है। क्या साधु-साध्वी उनका उपयोग कर सकते हैं ?



**उत्तर :** आगम में शहद व मधु को महाविगय माना गया है। यह बात सही है, पर अभक्ष्य नहीं माना गया है। महाविगय होने से शहद व नवनीत को निष्कारण नहीं लेना चाहिए। लेकिन माँस व मदिरा महाविगय के साथ-साथ अभक्ष्य होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

कभी कोई यह तर्क कर सकता है कि माँस और मदिरा यदि अभक्ष्य हैं और शहद व नवनीत अभक्ष्य नहीं है, तो अभक्ष्य के साथ इनको क्यों रखा ?

यहाँ चिन्तनीय बात यह है कि शास्त्रकारों की यह एक शैली है कि एक जातीय चीजों को एक साथ गिना देते हैं, पर इतने मात्र से सभी चीजें हेय या उपादेय नहीं होती हैं। शहद और मक्खन को मद्य एवं माँस के साथ जो गिनाया गया है, वह महाविगय रूप एक जातीयता की दृष्टि से गिनाया गया है, न कि भक्ष्य-अभक्ष्य की जातीयता की दृष्टि से। यथा- स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के ध्यान बतलाये हैं।

**“चउविहे ज्ञाणे पण्णते तं जहा-अट्टज्ञाणे, रुद्धज्ञाणे, धम्मज्ञाणे, सुक्कज्ञाणे”**

यहाँ जातीयता की दृष्टि से चारों ध्यान हैं, पर उपादेयता की दृष्टि से चारों ही ध्यान ब्राह्म नहीं हैं। आर्त-रौद्र ध्यान हेय हैं और धर्म-शुक्ल ध्यान उपादेय हैं। इसीलिए ध्यान पूर्ण करते समय कहा जाता है कि ध्यान में आर्त-रौद्र ध्यान ध्याया हो, तो **“मिच्छा मि दुक्कडं”** यहाँ पर भी कोई तर्क करे कि ध्यान कहा गया है। अतः चारों ब्राह्म होने चाहिए। पर यह तर्क बिल्कुल निर्मूल है। इसी प्रकार विगय के विषय में भी क्षीर-नीर विवेकिनी बुद्धि के अनुसार समझना योग्य है।

**प्रश्न-151 :** तत्त्वार्थ सूत्र के नवमें अध्याय में धर्मध्यान बारहवें गुणस्थान तक का होना बतलाया है, जबकि शुक्लध्यान का आरम्भ आठवें से माना गया है। यह अन्तर क्यों ?

**उत्तर :** शुक्लध्यान का प्रारम्भ आठवें से बतलाया है, पर गौण रूप में धर्मध्यान भी चालू रहता है, क्योंकि धर्मध्यान को शुक्लध्यान की भूमिका के रूप में भी लिया जाता है। जैसा कि सूत्र है-

**“एकाश्रये सवितर्के पूर्वे वितर्कश्रुतम्”**

इसमें शुक्लध्यान के पूर्व के जो दो पाये (चरण) हैं, वे वितर्क (श्रुत) के आश्रित होते हैं और श्रुत में आज्ञा, उपाय, विपाक संस्थान का समावेश है, जो कि चारों ही धर्मध्यान के मुख्यतया भेद हैं और इसी श्रुतपूर्वक शुक्लध्यान के दो पाये लिए गये हैं, जो बारहवें गुणस्थान तक पाये जा सकते हैं। अतः आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का प्रारम्भ एवं बारहवें तक धर्मध्यान का अस्तित्व मानने में उपर्युक्त दृष्टिकोण से कोई विरोध परिलक्षित नहीं होता। जैसे श्रुत ज्ञान मतिपूर्वक होता है। बिना मति के श्रुत ज्ञान नहीं है। यथा-

### “श्रुतं मतिपूर्वकं द्वयनेक द्वादशभेदम्”

इसी प्रकार शुक्लध्यान के दो पायों का आधारभूत जो श्रुत है, उस श्रुत के सहारे ही शुक्लध्यान के दो पायों का चिन्तन है। श्रुत का पर्यायवाची वितर्क है।

**प्रश्न-152 :** अरिहंत पद सिद्ध आदि की भाँति अस्तिवाचक न होकर नास्तिवाचक क्यों लिया ? “नमो सर्वज्ञाणं” ऐसा पद रखा जाता, तो क्या आपत्ति ?

**उत्तर :** तीर्थंकरों के उपदेश की मुख्यतया दो शैली रही हुई है - निषेध रूप और विधेय रूप। जैसे असत्य नहीं बोलना- यहाँ निषेध की प्रधानता है और सत्य बोलना- यहाँ विधेय की प्रधानता है। इन दोनों तरह से सत्य की परिपूर्ण व्याख्या होती है।

इसी तरह नमस्कार मंत्र में केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि की दृष्टि से अरिहंत और सिद्ध पद दोनों समान हैं। फिर भी चार घनघाती कर्मों को नष्ट करनेवाले अरिहंत पद को नास्ति यानि निषेध की प्रधानता से लिया गया है और वही आत्मा सिद्धावस्था में अनन्त चतुष्टय से युक्त होने से सिद्ध पद को आस्ति यानि विधेय की प्रधानता से लिया गया है।

**प्रश्न-153 :** पुण्य शुभ कर्म है, तो तत्त्व-श्रद्धा की अपेक्षा शुभाशय उपादेय की कोटि में आ सकता है। यदि नहीं, तो इतना मतभेद क्यों ?

**उत्तर :** पुण्य के विषय में तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है। परिपूर्ण मोक्ष की आराधना में वज्रऋषभ नाराच संहनन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है। वज्रऋषभ नाराच संहनन एवं औदारिकादि शरीर की प्राप्ति पुण्य का फल है। जब तक मोक्ष प्राप्त न हो जाये, तब तक इसको त्यागा नहीं जाता। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में औदारिक शरीर आदि सहायक होने से पुण्य उपादेय भी हैं।

जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के 23 वें अध्ययन में बतलाया है-

**शरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।**

**संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥**

समुद्र के पश्चिम किनारे स्थित व्यक्ति पूर्व के तट पर स्थित भव्य भवनों में जाने हेतु किसी सुज्ञ पुरुष से जानकारी प्राप्त करता है। उस जानकारी में उसको ज्ञात होता है कि समुद्र के इस तट पर पाषाण की एवं काष्ठ की नावें रही हुई हैं। पत्थर की नौका को ग्रहण नहीं करना है, पर काष्ठ की नौका को जानकर ग्रहण करना है और समुद्र के तट पर जाकर इसे छोड़ना है।

इस प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय की त्रिपुटीपूर्वक पाषाण की नौका को त्याज्य और काष्ठ की नौका को ग्राह्य जानकर काष्ठ की नौका को ग्रहण करता है, तो वह व्यक्ति भव्य भवनों को पा सकता है।

ठीक इसी प्रकार संसार समुद्र को पारकर मोक्ष रूपी भव्य भवन को पाने के लिए पुण्यानुबन्धी पुण्य एवं फल की यथास्थान आवश्यकता है। लेकिन जो इसी को एकान्त चरम लक्ष्य मान लेता है, वह भी वीतराग देव की आज्ञा का आराधन नहीं कर सकता और एकान्त सर्वथा हेय समझता है, वह भी दुर्जय की कोटि में पहुँच जाने से संसार में भटकने की अवस्था में रहता है।

इन उपर्युक्त दृष्टिकोणों से पुण्य हेय भी है, ज्ञेय भी है और उपादेय भी। इस स्याद्वाद दृष्टिकोण को यथा रूप में समझने पर सभी मतभेद समाप्त हो जाते हैं।

**प्रश्न-154 :** सामान्य केवलियों को कुछ परम्पराएँ अरिहंत पद

में वन्दन करती हैं और कुछ साधु पद में वन्दना करती हैं। यह अन्तर क्यों ?

**उत्तर :** इस विषय पर किंचिदपि गहराई से चिन्तन किया जाये, तो यह विषय स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

एक दृष्टिकोण यह है कि शास्त्रीय धरातल पर गुणस्थानों को सन्मुख रखकर चिन्तन किया जाये। साधारण केवली हो या तीर्थकर। इनके तेरहवाँ आदि गुणस्थान माने गये हैं और छठे आदि गुणस्थानवर्ती साधक को छद्मस्थ साधु माना गया है। ये दोनों अपने वन्दन की अपेक्षा नहीं रखते। पर वन्दन करनेवाले विवेकी पुरुष पर निर्भर है कि वे तीर्थकर केवली और साधु के स्वरूप को समझकर उन्हें यथा स्थान नमस्कार करें। यदि कोई विवेक के दीपक को धूमिल कर तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती केवलियों को छठे गुणस्थान आदि साधन की श्रेणी में लाकर वन्दन करता है, तो क्या यह उन केवलियों की आशातना नहीं है ?

यह तो वैसा ही हुआ कि प्रिंसिपल को अत्यधिक अबोध छात्रों के साथ बैठाकर वन्दन करना।

हम नमस्कार मंत्र की ओर देख लें। प्रथम पद में “**णमो-अरिहंताणं**” कहा है। इसका अर्थ है- घनघाती कर्मों को नाश करनेवालों को नमस्कार हो। इसमें व्यक्तिगत रूप से न तो तीर्थकर को लिया गया है और न सामान्य केवली को। पर घन-घाती कर्मों का नाश दोनों करते हैं। अतः अरिहंत पद से दोनों ही वन्दनीय हैं। अगर अरिहंत पद से तीर्थकर ही अभीष्ट हों, तो फिर “**णमो अरिहंताणं**” के स्थान पर “**णमो तित्थयराणं**” ही कह देते।

अतः स्पष्ट है कि सामान्य केवली भी अरिहंत पद में ही (नमस्करणीय) वन्दनीय है।

**प्रश्न-155 :** आहार संज्ञा बिना आहार होना संभवित नहीं है। फिर केवली को कवलाहार किस प्रकार संभावित है ?

**उत्तर :** जिन भगवान में ग्यारह परीषह माने गये हैं। यथा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है- “**एकादशजिने**” इसमें क्षुधा परीषह भी है, जो

कि वेदनीय जन्य है। अतः मोहजनित संज्ञाओं से भिन्न क्षुधा वेदनीय परीषह के उदय से कवलाहार होता है। अतः मोह रहित आहार संज्ञा केवली में बाधक नहीं है, क्योंकि जब क्षयोपशमिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि में भी आहार संज्ञा बाधक नहीं है तो फिर क्षायिक ज्ञान में कैसे बाधक हो सकती है? ज्ञान के होते हुए भी शरीर से सम्बन्धित व्यवहार तो शरीर के रहने पर यथास्थान होता ही है।

**प्रश्न-156 :** आचार्य स्कन्धक के शिष्य एवं गजसुकुमाल आदि उपक्रम लगने से काल धर्म को प्राप्त हुए, फिर उन्हें योग्यक्रमी कैसे माना जाये ?

**उत्तर :** शास्त्रीय दृष्टिकोण से आयु दो प्रकार का माना गया है। अनपवर्तनीय आयु और अपवर्तनीय आयु। नारकी, देवता, त्रिषष्ठी श्लाका पुरुष, चरम शरीरी आत्मा व युगलिकादि अनपवर्तनीय आयुवाले होते हैं। इनसे भिन्न अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनों आयुवाले हो सकते हैं। उपक्रम दोनों में लग सकते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि अनपवर्तनीय आयु के उपक्रम लगने पर भी अवधि के पूर्व आयुष्य जल्दी नहीं भोगा जाता। किन्तु अपवर्तनीय आयु में उपक्रम द्वारा आयु को अवधि के पहले भी भोगा जा सकता है।

गजसुकुमाल आदि के उपक्रम लगने पर भी अनपवर्तनीय आयुष्यवाले थे। पर आयु उनका उतना ही था। अतः उपक्रम के साथ ही आयुष्य के क्षय हो जाने से सहसा ऐसा लग सकता है। किन्तु वास्तविकता में तो वे अनपवर्तनीय आयुष्यवाले ही थे।

**प्रश्न-157 :** दिगम्बर परम्परा काल द्रव्य के असंख्यात अणु मानती है। श्वेताम्बर नहीं मानते, तो कालाणु के बिना काल द्रव्य का अस्तित्व किस प्रकार संभव है ?

**उत्तर :** इसमें प्रथम बात यह उठती है कि जब दिगम्बर परम्परा काल के असंख्यात अणु मानती है, तो फिर उसको कालास्तिकाय क्यों नहीं मानती ? यथा असंख्यात प्रदेशी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि।

**औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुषाऽसंख्येय वर्षायुषोऽन -पवर्त्यायुषः।**

-तत्त्वार्थ 2/52

यदि असंख्यात अणु माना जाये, तो वे कालाणु अनन्त द्रव्य को कैसे प्रवर्तते हैं अर्थात् नये को पुराना कैसे करते हैं ? एक-एक कालाणु भी एक द्रव्य को प्रवर्तये, तो फिर अनन्त कालाणु माने जाये, क्योंकि द्रव्य अनन्त भी है।

अगर अनन्त कालाणु मान लेते हों, तो फिर अस्तिकाय का कथन होना चाहिए। पर ऐसा शायद दिगम्बर सम्प्रदाय को भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में पंचास्तिकाय का ही उल्लेख है। षट्द्रव्य की दृष्टि से काल द्रव्य को लिया गया है, पर काल द्रव्य का अस्तित्व स्वतंत्र न होकर आपेक्षिक है।

यथा घड़ी का कांटा एक से लेकर बारह अंक पर्यन्त घूमता है और उसके अनुसार सेकिण्ड, मिनिट, घण्टे आदि समय जाना जाता है।

यहाँ कुछ गंभीरता से सोचना है कि घड़ी के कांटे की पर्याय का परिवर्तन हुआ, उसी को घण्टे आदि कह दिया जाता है, पर घड़ी के पास काल नाम का स्वतंत्र तत्त्व नहीं है।

इसी प्रकार अढ़ाई द्वीप में सूर्य आदि की गति पर्याय से काल की गणना कर ली जाती है, न कि सूर्य की गति आदि पर्याय से भिन्न काल नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य है। इसका फलितार्थ यह है कि एक परमाणु की एक पर्याय के परिवर्तन को समय माना जाता है। अतः जितने द्रव्य माने जाते हैं, उन द्रव्यों की अवस्था के समय का अस्तित्व अपेक्षा से माना है, न कि धर्मास्तिकाय आदि की तरह स्वतंत्र द्रव्य।

दिगम्बर परम्परा के महान आचार्य कुंदकुंदाचार्य प्रणीत 'नियमसार' के अजीव अधिकार की 37 वीं गाथा में कहा है-

**“कालस्स णं कायतं, एकापदेसो हवे जहतां”**

अर्थात् काल को कायपना नहीं है, क्योंकि वह एक प्रदेशी है।

इसकी टीका करते हुए पद्मप्रभु मल्लधारी ने कहा है-  
**“कालस्येक प्रदेशो भवति, अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति अपितु द्रव्यत्वमस्त्यैवेति।”**

काल का एक प्रदेश होता है। अतः उस कारण से इसका (काल का) कायत्व अर्थात् कालास्तिकाय नहीं होता। अपितु काल द्रव्यत्व ही है।

अतः इस प्रमाण से तो दिगम्बर परम्परा में भी काल को एक प्रदेशी माना गया है। एतदर्थ आपके कथन से तथा उपयुक्त प्रमाण से यह भाषित होता है कि दिगम्बर परम्परा में काल विषयक मान्यता एक समान नहीं है।

**प्रश्न-158** : मिथ्यादृष्टि जीवों को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है फिर उनके स्वर्ग की आयु कैसे बन्धती है ?

**उत्तर** : जैसे विष-विष में अन्तर होता है। कोई अल्प सत्ववाला तो कोई अधिक सत्ववाला, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी भी कई प्रकार का है। कोई हल्का अनन्तानुबन्धी, तो कोई भारी अनन्तानुबन्धी। जो हल्का अनन्तानुबन्धी होता है, उसमें शुभ भाव भी आते-जाते रहते हैं।

वाचक उमास्वाति ने कहा है कि “**शुभः पुण्यस्य**” अर्थात् शुभ भावों से पुण्य का बन्ध होता है। जब अत्यधिक पुण्य का संचय हो जाता है, तो उसका उपभोग दीर्घकाल तक होता रहता है और ऐसे दीर्घकाल तक अत्यधिक पुण्य का उपयोग स्वर्ग से अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में अभवी की गति नव त्रैवैयक तक बतलायी है। उसमें प्रथम गुणस्थान होता है। जिसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाता है। उस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का सद्भाव रहता ही है। अतः अनन्तानुबन्धी कषाय में देवायुष्य का बन्ध होना आगम के विरुद्ध नहीं है।

**प्रश्न-159** : सम्यक् दर्शन आत्मा के दर्शन गुण की शुद्ध पर्याय है, जो आत्म प्रदेशों में प्रकट होती है। पर आधुनिक काल के आचार्य व मुनिगण सम्यक्त्व दिलाकर अपने को गुरु मनवाते हैं, वह सम्यक्त्व कौनसी है ?

**उत्तर** : आत्मा में मिथ्यात्व की जो अशुद्ध पर्याय है, उस अशुद्ध

पर्याय को शुद्ध कैसे किया जाये, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व का बन्ध होता रहता है। इसलिए उसकी आत्म पर्याय मिथ्यात्व के रूप में बनी रहती है। जैसे कि खेती में बीज बोया, एक दाना अंकुरित हुआ। फिर उसके दानों को बोने पर अनेक दाने पैदा होते हैं। वैसे ही मिथ्यात्व रूप अशुद्ध पर्याय उदय रूप बीज तुल्य उत्पन्न होती है और फिर वह फलित होने पर अनेक बीजों के तुल्य मिथ्यात्व की प्रकृतियों का बन्ध प्रायः होता रहता है। इस प्रकार उदय और बन्ध का सिलसिला चलते रहने पर कभी भी सम्यक्त्व की शुद्ध पर्याय का प्रसंग अभव्य की तरह बन ही नहीं सकता। लेकिन शास्त्रकारों ने भव्य-अभव्य की अवस्था का भी विश्लेषण किया है। भव्यात्माओं के भी निकचित बन्ध की अवस्था में फल का भोग करना आवश्यक बन जाता है। पर निकचित बन्ध की अवस्था से भिन्न बन्ध की अवस्था में उद्वर्तना-अपवर्तनाकरण से उनको न्यूनाधिक किया जा सकता है। उनके न्यूनाधिक होने में मुख्यतया दो निमित्त शास्त्रकारों ने बतलाये हैं-

एक तो स्वाभाविक रूप से कर्मों की अवधि समाप्त हो जाने पर या दब जाने पर सम्यक् दर्शन होता है, वह निसर्ग सत्यक् दर्शन कहलाता है और दूसरा गुरुजनों के उपदेश से जो होता है, उसे अधिगम सम्यक् दर्शन कहा है। जैसा कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

### “तन्निसर्गादधिगमाद्वा”

अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा दूसरों के उपदेश से उत्पन्न होता है।

दिगम्बर समाज द्वारा प्रकाशित मोक्ष शास्त्र में इसका विवेचन करते हुए कहा है कि किसी जीव को आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने पर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और किसी को उसी भव में दीर्घकाल में या दूसरे भव में उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है, उसे अधिगम सम्यक् दर्शन कहते हैं और जिसे पूर्व के संस्कारों से सम्यग्दर्शन होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।



इस प्रकार एक दृष्टि से निसर्गज भी पूर्व जन्मान्तर में उपदेश जनित एवं क्षयोपशम निमित्तक ही होता है। इसमें अन्तर तत्क्षण अथवा दीर्घकाल का ही रहता है।

स्वयं प्रभु महावीर ने भी सकडाल पुत्र के स्थान पर पहुँचकर सकडाल पुत्र को उपदेशादि के माध्यम से आत्मिक शुद्ध पर्याय को प्रकट कराते हुए मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का बोधिबीज दिया तथा चण्डकौशिक सर्प के बिल पर पहुँचकर उसे सम्यक्त्व का यथार्थ बोध प्रदान किया।

यही नहीं, अपितु भगवान महावीर स्वामी ने अपने अन्तिम समय में भी देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए गौतम स्वामी को उसके स्थान पर भेजा।

श्री प्रभव स्वामी ने श्री शय्यंभव स्वामी को ब्राह्मण अवस्था में रहते हुए बोधित करने के लिए अपने शिष्यों को भेजा, ऐसा प्राचीन इतिहास में वर्णन मिलता है।

इस विषयक प्रतिबोध देने का कार्य मुख्यतया आचार्य पर ही निर्भर रहता है, क्योंकि तीर्थंकरों के बाद शासन के उत्तराधिकारी वे ही होते हैं, अतः शासन हित की दृष्टि से एवं भव्य जीवों को प्रतिबोधित करने के लिए निःस्वार्थ भाव से वे यथायोग्य शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर सम्यक्त्व प्रदान करते हैं।

जहाँ आचार्य के पहुँचने की स्थिति न हो, वहाँ उनके आज्ञाकारी सन्तों को भी भव्यों को प्रतिबोधार्थ भेज सकते हैं। जैसे कि महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को भेजा था एवं प्रभव स्वामी ने अपने शिष्यों को भेजा।

लेकिन सन्त जो कुछ भी बोध देते हैं, वह शासनपति की नेश्राय में ही प्रतिबोध देते हैं, न कि व्यक्तिगत अवस्था में, क्योंकि शासनपति के नाम से सम्यक् बोध की पर्याय पैदा करने में व्यक्ति की शासन-निष्ठा एवं निःस्वार्थ भावना का द्योतन होता है।

उपदेशादि से जो आत्म प्रदर्शों में सम्यक्त्व प्रगट होता है, वह

आत्म प्रदेशों तक ही सीमित न रह कर, मन एवं वाणी के माध्यम से बाहर भी प्रकट होता है। यह बात सम्यक्त्व सूत्र से स्वतः स्पष्ट है।

जैसा कि सम्यक्त्व सूत्र में शास्त्रकारों ने बतलाया है-

**“अरिहंतो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो,  
गुरुणो जिण पणत्तं तत्तं इय सम्मतं माए गहियं।”**

इस सूत्र में सम्यक्त्व ग्रहण करनेवाला सम्यक्त्व को स्वीकार करता हुआ कह रहा है कि- अरिहंत मेरे देव है। सुसाधु 27 गुण के धारक मेरे गुरु हैं। जिनेन्द्र देव प्ररूपित मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व में जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण करता हूँ।

इस प्रकार के स्वीकृतिसूचक शब्द से यह ध्वनित होता है कि सम्यक्त्व आत्म प्रदेशों तक ही सीमित न रही, अपितु वाणी के माध्यम से स्वीकृत हुई, तो स्वीकार करानेवाला भी अवश्यभावी है। वह स्वीकार करानेवाला वीतराग प्रभु के अनुशासन के अनुरूप शासन को संभालनेवाला शास्ता एवं उस शास्ता की आज्ञा में रहनेवाला निर्ग्रन्थ सुसाधु के रूप में भूमण्डल पर विचरण करता हुआ शासनपति के अन्तर्गत भव्य प्राणियों को सम्यक्त्व देकर प्रतिबोधित करता है, वह शास्त्रानुकूल है।

शासनपति के केन्द्रीयकरण के अतिरिक्त व्यक्तिगत सम्यक्त्व का बोध दी जाने की जो चेष्टा की जाती है कि **“मैं तुम्हारा गुरु हूँ, तू मेरा चेला है”** वह कथन तीर्थेश जिनेन्द्रदेव के अभिप्राय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वीतराग देव का शासन चतुर्विध संघ के अन्दर रहनेवाली कषायिक वृत्ति को शमन करने का होता है, न कि केन्द्रीयकरण शासन से विपरीत व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु यह कार्य सम्पन्नकर संघ को विघटित करना अर्थात् सांसारिक अवस्था के समान अलग-अलग परिवार के रूप में संघ की शक्ति को विखण्डित करना, जो कि वीतराग सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

आधुनिक युग में विधिवत् अनुशासन का पालन नहीं करनेवाले एवं व्यक्तिगत स्वार्थ एवं यशलिप्सा के आधीन होकर सम्यक् बोध के नाम पर अलग-अलग साधुओं द्वारा अलग-अलग शिष्य बनाने का जो

प्रयत्न किया जा रहा है, वह योग्य नहीं है।

**प्रश्न-160 :** ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा व अज्ञान दो परीषह होते हैं। मुनि में अज्ञान तो नहीं, फिर यह परीषह क्यों ?

**उत्तर :** सत्पुरुषार्थ के परिणाम स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से प्रज्ञा विकसित होती है। विकसित प्रज्ञा का प्रभाव प्रबुद्ध वर्ग पर पड़ता ही है। वे जब अपनी जिज्ञासाओं को संतृप्त करने के लिए मुनि के पास समुपस्थित होते हैं, तब तर्क-वितर्क का सिलसिला भी चल पड़ता है। प्रश्न का उत्तर योग्य तरीके से देने पर तथा श्रोता के संतुष्ट हो जाने पर उत्तरदाता मुनि को अपनी प्रज्ञा पर अहंकार वृत्ति का प्रादुर्भाव होना भी प्रज्ञा परीषह का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति हेतु सतत पुरुषार्थ करने पर भी बोध प्राप्त न हो, तब खिन्नतावश आर्त्तध्यान की स्थिति पैदा हो जाये कि इतना पुरुषार्थ करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो रही है। अतः ऐसे ज्ञान में क्या रखा है ? जैसे कि लोकोक्ति प्रचलित है- “**पाठितव्यं तदपि मरितव्यं न पठितव्यं तदपि मरितव्यं**” इस प्रकार ज्ञान, चरित्रादि के प्रति अरुचि होना अज्ञान परीषह कहलाता है।

अज्ञान के कारण अज्ञान परीषह होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि बाईस परीषह में स्त्री परीषह भी बताया है। जबकि साधु के पास स्त्री होती ही नहीं।

अगर अज्ञानी होने से ही अज्ञान परीषह माना जाये, तो स्त्री के होने पर स्त्री परीषह होगा, किन्तु यह सम्भव नहीं है। एतदर्थ मुनि के अज्ञान तो नहीं है, फिर भी उपर्युक्त दृष्टिकोण से अज्ञान परीषह हो सकता है।

**प्रश्न-161 :** आत्मा का चरम लक्ष्य सिद्धावस्था है। उसमें आत्मा किस प्रकार के सुख की अनुभूति करती है ?

**उत्तर :** कर्म सहित अवस्था में इन्द्रिय से सम्बन्धित मन जिन तत्त्वों को ग्रहण करके अनुभव करता है, उससे सर्वथा भिन्न अनुभूति सिद्धों के होती है, क्योंकि पर-सापेक्ष अनुभव में वास्तविक सुख की

अनुभूति नहीं होती। पर पदार्थ का अवलम्बन होने से परतंत्रता की अनुभूति के साथ स्वयं की अनुभूति विकृत हो जाती है। अतः सच्ची आत्मिक अनुभूति नहीं हो पाती।

जब चार घनघाती कर्मों के क्षय होने पर दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ अवशेष कर्मों को क्षयकर आत्मा सर्व सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर आत्मिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, तब उस अवस्था में परावलम्बिता से हटकर आत्मा सदा सर्वदा स्वतंत्रता के सुख की अनुभूति करती है, जो कि सभी सांसारिक सुखों से परे है।

ऐसे सुख की अनुभूति सांसारिक किसी भी पदार्थ से नहीं जा सकती और न पाँच इन्द्रियों से ग्राह्य ही हो सकती है। ऐसे सुख को जानने के लिए तर्क व मति भी काम नहीं कर पाती। जैसा कि आचारांग सूत्र में कहा है-

**“तक्का तत्थ न विञ्जइ, मइ तत्थ न गाहिया।”**

इतना ही नहीं, अपितु मोक्ष सुख सम्पूर्ण श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यायज्ञान का भी अविषय है, क्योंकि उस प्रकार की अनुभूति का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव उसको अनिर्वचनीय सुखानुभूति कह सकते हैं।

मोक्ष सुख की बात तो दूर रही। कई रूपी पदार्थों से होनेवाली आनन्दानुभूति को भी शब्दादि के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

जैसे- जंगली व्यक्ति ने कभी अपनी जिन्दगी में कलकत्ता आदि शहरों को नहीं देखा, वह अचानक कभी न्यूयार्क सरीखे समृद्धिशाली शहर में चला जाये और वहाँ पहुँचकर कभी आवस्वादन न किये गये पदार्थों को खाता है और पाँच इन्द्रियों से होनेवाले उच्चतम आनन्द का अनुभव लेता है। ततश्च जब वह पुनः जंगल में पहुँचता है, तब उसके अन्य साथी जिन्होंने कभी भी इस प्रकार का अनुभव नहीं किया और न करनेवाले हैं, वे जब यह पूछ बैठते हैं कि तुम कहाँ गये और वहाँ क्या सुख की अनुभूति हुई ? कैसा सुख है.... आदि ? तब वह जंगली पुरुष यही कहता है कि मैंने बहुत सुख पाया.... आदि, किन्तु उसका

यथार्थ वर्णन करके समझा नहीं पाता।

वह तो क्या, दुनियाँ का सबसे बड़ा विद्वान, जो वृहस्पति के तुल्य भी क्यों न हो, वह भी अपनी विद्वत्ता की अनुभूति एवं पर पदार्थ जन्य अनुभूतियों को अन्य को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, तब पाँच इन्द्रियों एवं मन आदि के माध्यम से सिद्धावस्था के सुख का उल्लेख कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता। सिद्धावस्था का सुख तो मात्र अनुभव गम्य है। जिस प्रकार घी का आस्वादान किया जा सकता है। पर बतलाया नहीं जा सकता। हाँ, कुछ अनुभूति के आधार से यत् किंचित् रूपेण तुलनात्मक विशेषताओं से आभास कराया जा सकता है।

एक तरुण पुरुष पर्याप्त शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक आदि श्रम से थका हुआ है, वह श्रम के अनुरूप पर्याप्त भोजन कर गादी तकियों के सहारे प्रगाढ़ निद्रा के वशीभूत हो जाये, जिसमें स्वप्नादि भी न आये। ऐसी प्रगाढ़ निद्रा को लेकर जब वह श्रमिक उठता है, तब उसे कोई यह पूछ लेता है कि आज कैसा आनन्द रहा ? तो वह कहता है कि बहुत आनन्द रहा। फिर वह पूछता है कि आनन्द कैसा था, तो जवाब देता है उसको तो मैं कह नहीं सकता। शब्दों द्वारा उसका वर्णन करना कठिन है।

उस प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में उस तरुण ने न कुछ भी श्रवण किया, न कोई रूप देखा, न कोई गंध सूँधी। न किसी प्रकार का रसास्वादन किया। न स्पर्शजन्य अनुभूति की, न मानसिक कल्पना आयी, न स्वप्नादि की सृष्टि ही देखी। फिर भी वह पाँच इन्द्रिय और मन का व्यापार न होने पर भी उस सुख अवस्था की अनुभूति कर रहा था और जगने पर उस अनुभूति का उल्लेख जिहवा द्वारा नहीं कर पाता है।

इस प्रकार का अनुभव प्रगाढ़ निद्रा का अनुभव है, किन्तु साधक जागृतावस्था में विवेक ज्ञान के साथ वैसा अनुभव करने लग जाये, तो उस प्रकार के अनुभव से सिद्ध अवस्था के सुख का आंशिक रूप से आभास कर सकता है।

जिस आंशिक आभास से वह यह अनुमान कर सकता है कि निरंजन निराकार निरामय सिद्धावस्था में अनन्त सुख की अवस्था किस रूप से आत्मा में समाहित है।

अन्ततः सिद्धावस्था के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता और न बतलाया ही जा सकता है। केवल उसका अनुभव ही किया जा सकता है। जिसका आंशिक रूप में अनुभव ध्यान योग की साधना करनेवाले उत्कृष्ट साधक कर सकते हैं।

**प्रश्न-162 :** साधु-मार्ग का उद्भव कब से ?

**उत्तर :** धर्म एवं संस्कृति के आविर्भाव के काल-निर्धारण के अनुचिन्तन को मानव संस्कृति एवं मानवीय सभ्यता के प्रादुर्भाव से भिन्न नहीं किया जा सकता है। मानव जीवन के साथ धर्म का सम्बन्ध अनादि काल से अनुबन्धित है। अतः धर्म अथवा धार्मिक परम्पराओं के संदर्भ में ऐतिहासिक चिन्तन इतना अधिक महत्त्व नहीं रखता है तथापि सामान्य जन-मानस अर्वाचीनता एवं प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, अतः साधुमार्ग की ऐतिहासिक स्थिति पर चिन्तन भी अपेक्षित है और इसे ही यहाँ स्पष्ट करने का प्रयाय किया गया है।

जागतिक अवधारणाओं में कुछ अवधारणाएँ ऐसी हैं, जिन्हें शाश्वत सत्य (नदपअमतेंस जतनजी) के रूप में माना जाता है। धर्म किंवा साधुमार्ग भी उन्हीं अवधारणाओं में एक है। चूंकि चेतना के सर्वांगीण विकास अथवा चरमोत्कर्ष रूप परम साध्य की अवाप्ति (उपलब्धि) का सन्देश इस धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य है, अतः इस धर्म का आत्मधर्म से तादात्म्य होना आनुसंगिक ही हो जाता है। इस मौलिक तथ्य के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि साधुमार्गीय धर्म को ऐतिहासिकता के साथ सम्बद्ध करना वैसा ही बेतुका है, जैसा कि मुर्गी और अण्डे के प्रथम होने का प्रश्न।

इतिहास का कार्य है सभ्यता एवं संस्कृति के स्मृति-चिह्नों को सहेजना और इन्हें कालबद्धता के साथ अनुबन्धित करना। साधुमार्ग कोई संस्कृति एवं सभ्यता का नाम नहीं है। उसका सम्बन्ध जीवन के

शाश्वत सत्यों से है, अतएव उसे हम ऐतिहासिकता के घेरे में नहीं बाँध सकते, सीधे शब्दों में साधुमार्ग प्रागैतिहासिक धर्म ही नहीं हैं, वह अपनी आदि को अनादि की कुक्षि में निमज्जित पाता है।

इतिहास एवं प्रागितिहास की भी कुछ सीमा-रेखाएँ हैं। साधुमार्ग उन सीमाओं के संकुचित दायरे से परे ही नहीं, बहुत परे है, तथापि आविर्भाव एवं तिरोभाव अथवा ह्रास एवं विकास के परिप्रेक्ष्य में जब इसकी ऐतिहासिकता पर चिन्तन गतिशील होता है, तो हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :-

जैन दर्शन के अनुसार काल की अनवरत परिक्रमा को परिगणित करने के लिए काल को उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के षट् आरों (काल-खण्डों) के रूप में विभक्त किया है। तदनुसार प्रथम तीन कालखण्डों (आरों) के व्यतीत होने पर भोगभूमिक जीवन व्यवस्था के उपरान्त कर्मभूमिक जीवन निर्वाह की प्रणाली प्रारम्भ होने पर तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने इस साधुमार्ग की परम्परा के प्रति जनमानस को प्रेरित किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि इस अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा से भगवान ऋषभदेव इसके उद्गाता व आविर्भावकर्ता हैं।

इसके पश्चात् उत्तरवर्तीकाल में भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान महावीर तक के तेवीस तीर्थंकरों ने अपने-अपने शासन में साधुमार्ग का प्रतिपादन किया था। इस तथ्य को स्पष्ट करने का मौलिक आधार है, नमस्कार मंत्र।

नमस्कार महामंत्र सार्वभौमिक है। वह समग्र जैन समाज को एक स्वर से मान्य है। इसे आगमों का मूल बीज कहा जाता है। यह द्वादशांगी का सारभूत तत्त्व है। इसमें सम्पूर्ण अंग-उपांग समाहित हो जाते हैं। इससे भी प्रचलित जैन धर्म साधुमार्ग के रूप में ही फलित होता है।

इस नमस्कार महामंत्र में पाँच पद हैं -

**णमो अरिहंताणं**

**णमो सिद्धाणं**



**णमो आयरियाणं  
णमो उवज्झायाणं  
णमो लोए सव्व साहूणं**

इन पाँच पदों में द्वितीय पद सिद्ध भगवान का है और अवशेष चार पद साधु के हैं। पाँचवाँ पद तो सव्वसाहूणं होने से साधु का है ही। अन्य प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ पद भी साधु रूप हैं, क्योंकि उपाध्याय, आचार्य और अरिहंत भी संयमी होते हैं, चारित्र-सम्पन्न होते हैं। ये भी सामान्य साधु की तरह प्रव्रज्या अंगीकार करते हैं और साधना-पथ पर अग्रसर होते हुए, जैसे-जैसे गुणों का विकास करते जाते हैं, वैसे-वैसे उपाध्याय, आचार्य आदि पद से सुशोभित हो जाते हैं, परन्तु मूल में इन तीनों में भी साधुता तो है ही, इसलिए इनको साधु पद में भी सम्मिलित किया जाता है जैसा कि-

**सिद्धाणं नमो किञ्चा, संजयाणं च भावओ।**

(उत्तराध्ययन 20-1)

यहाँ पर नमस्कार मंत्र में स्थित पाँचों पदों को सिद्ध और संयति (साधु) इन दो पदों में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार अरिहंत आदि चार पद साधु के होते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य साधु में जब अमुक-अमुक गुणों का विकास हो जाता है और वह आचार्य पद पर आसीन हो जाता है, तब वह आचार्य के रूप में सम्बोधित होने लगता है तथा यथाख्यात चारित्र सम्पन्न संयति जब घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाते हैं, तब उस विशिष्ट अवस्था प्राप्त संयति को अरिहंत कहा जाता है। आचार्य और उपाध्याय ये पदवियाँ विशेषण है, जो साधु की अमुक-अमुक अवस्था की परिचायक हैं, परन्तु मूल में तो सभी साधु ही हैं।

जैसे मनुष्य-मनुष्य एक होते हुए भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्य मंत्री आदि पदों पर आसीन होने से उस-उस पदवी से संबोधित होते हैं, इसी प्रकार यहाँ मनुष्य की तरह सामान्य रूप से सभी साधु हैं परंतु



‘अरिहंत’ आदि पद की दृष्टि से तद्-तद् रूप में सम्बोधित किये जाते हैं।

साधु के अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन चार पदों में सर्वोत्कृष्ट साधु अरिहंत होते हैं और वे ही भव्य को मोक्ष प्रदान करते हैं। इसलिए स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि ‘साधोः आगतः मार्गः साधु मार्गः’ अर्थात् साधु से जो मार्ग आया अथवा साधु ने जो मार्ग-बतलाया, वह साधुमार्ग के रूप से प्रचलित हुआ।

इसके अतिरिक्त आगमों में भी भगवान के प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा गया है तथा भगवान को भी ‘श्रमण’ शब्द से संबोधित किया है यथा :-

“तएणं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवाओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्टुट्टे उट्टाए उट्टेइ उट्टिता जाव एवं वयासी-सदहामिणं भंते णिग्गंथं पावयणं.....।”

-सुखविपाक

इसमें भगवान महावीर को “श्रमण” कहा है। साथ ही उनके प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा है। भगवान की देशना श्रवणकर सुबाहुकुमार भगवत्-वाणी पर श्रद्धान करता हुआ भगवान के समक्ष ही कहता है कि हे भगवन! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन-साधु द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग में श्रद्धा करता हूँ। इससे भी साधुमार्ग फलित होता है। इस प्रकार का उल्लेख अन्य भी कई आगमों में पर्याप्त रूप से मिलता है। श्रावक को भी भगवदोपासक या जिनोपासक नहीं कहते हुए श्रमणोपासक कहा गया है। इससे भी साधुमार्ग ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन साहित्य-‘जैन धर्म के प्रभावक आचार्य’ आदि ग्रन्थों में भी साधुमार्ग को प्राचीन स्वीकार किया है।

साधुमार्ग की प्राचीनता जान लेने पर यह जिज्ञासा प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है कि आज जो दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि अनेक सम्प्रदाय दृष्टिगत होते हैं, उनका आविर्भाव कब और कैसे हुआ? इस विषयक विस्तृत जानकारी ‘जैन धर्म के मौलिक इतिहास’ आदि से की जा सकती है, परन्तु जिज्ञासा शमनार्थ संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

प्रभु महावीर के जन्मराशि पर भष्मग्रह एवं पंचमकाल के प्रभाव से इसमें उतार-चढ़ाव होने स्वाभाविक थे। इसी प्रसंग को लेकर कल्पसूत्र में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का पूजा-सत्कार-उदय-उदय नहीं होगा।

**“जप्पभिइं चणं से ख्रुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्त सकते तप्पभिइ चणं समणाणं णिग्गंथाणं निग्गंथीणं य नो उदिए-उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ।”**

(कल्पसूत्र)

प्रभु महावीर के निर्वाणोपरान्त 600 वर्ष तक साधुमार्ग निराबाध गति से चल रहा था, परन्तु वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में इस साधुमार्ग में से एकान्त मान्यता के कारण एक शाखा विलग हो गयी, जो शरीर पर वस्त्र नहीं रखने के कारण 'दिगम्बर' के नाम से प्रचलित हुई। इसके विलग होने का समय वीर निर्वाण से 609 वर्ष बाद का बतलाया जाता है।

‘जैन धर्म के प्रभावक आचार्य’ में इसका उल्लेख इस प्रकार आया है-

**“वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अविभक्त जैन श्रमण-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओं में विभक्त हो गया था। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी.नि 609 (वि.सं. 139) में दिगम्बर मत की स्थापना हुई।”**

साधुमार्ग में चलनेवाले संयत आगमानुकूल श्वेत परिधान से युक्त होने से श्वेताम्बर के नाम से सम्बोधित होने लगे। यह श्वेताम्बर उस समय साधुमार्ग का ही उपनाम था।

इसके पश्चात् वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के उत्तरवर्ती समय में बारह वर्ष का भयानक दुष्काल पड़ा, जिसमें साधुमार्गी समाज की भी काफी क्षति हुई। अनेक श्रमण श्री भद्रबाहुस्वामी के साथ उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत में विहार करके चले गये, परन्तु जो श्रमण उस

दुष्काल के क्षेत्र में स्थित रह गये, वे अपनी स्थिति में सुरक्षित नहीं रह पाये, जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर वीतराग देवों की मूर्ति एवं मन्दिर आदि के निर्माण का प्रसंग उपस्थित हुआ और उसी समय से श्वेताम्बर साधुमार्ग दो भागों में विभक्त हो गया। जो विभाग मंदिर की आस्था रखकर चलने लगा, वह मूर्तिपूजक (चैत्यवासी) के नाम से प्रचलित हुआ। इसका समय वीर निर्वाण से 690 वर्ष के लगभग का बतलाया जाता है। परंतु वीर निर्वाण संवत् 882 से तो इनका स्पष्ट रूप से विभक्तिकरण हो गया था, जैसा कि “**जैन धर्म के प्रभावक आचार्य**” में लिखा है। यथा -

**“श्वेताम्बर परम्परा का मुनि-समुदाय वीर निर्वाण 882 (वि.सं. 412) में दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। एक पक्ष चैत्यवासी सम्प्रदाय के नाम से और दूसरा पक्ष सुविहित मार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्तभाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे थे।”**

जो साधु समाज वीतराग आज्ञानुसार पूर्व की तरह ही आचरण एवं प्ररूपणा पद्धति को अपनाये रहा, वह क्वचित् सुविहितमार्गी एवं स्थानक आदि में स्थित रहने से स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्धि पाने लगा। इस प्रकार मुख्यतया दक्षिण भारत में स्थानकवासी एवं सुविहितमार्गी के रूप में साधुमार्ग पल्लवित-पुष्पित होता रहा और उत्तर भारत में यति-समाज का प्राबल्य रहा।

वीर प्रभु को जन्मराशि पर लगे भष्मग्रह की परिसमाप्ति पर वीर लौकाशाह ने जन्म लिया और लघुवय में ही अपने कुशाग्र बुद्धिबल से राज-सम्मान प्राप्त किया। घटना विशेष से संसार से उदासीन होकर आत्मचिन्तन में लगे। तत्कालीन गृहस्थ वर्ग के लिए ‘**पढ़े सूत्र तो मरे पुत्र**’ की लौकिक मान्यता को गौण करके आपने जैनागमों का अध्ययन किया। जैनागमों के अध्ययन से आपके अन्तर्चक्षु खुल गये, जिससे आपने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और उसका प्रचार-प्रसार करना शुरू कर दिया।

इस प्रकार उन्होंने उत्तर भारत में पुनः क्रांति का नाद फूँका

और साधुमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। परन्तु उन्होंने कोई नया मार्ग नहीं चलाया। अनेकों भव्यों ने आपसे जैनागमों का वास्तविक विवेचन श्रवणकर साधुमार्ग में भागवती दीक्षा अंगीकार की और 22 विभागों (संगाटकों) में विभक्त होकर अलग-अलग क्षेत्रों में विचरण करके साधुमार्ग को विकसित करने लगे। एक से दूसरे संगाटक का आवागमन की कठिनाई के कारण विशेष सम्पर्क नहीं हो पाने से लम्बे समय तक अमुक क्षेत्र विशेष में ही विचरण करते रहने से, अगल-अलग दीक्षाएँ होते रहने से वे ही संगाटक बावीस सम्प्रदाय अथवा (22) बावीस टोला के नाम से प्रचलित हुआ।

तत्कालीन यति समाज की ओर से उनको काफी उपसर्ग भी आये। एक बार ठहरने को योग्य मकान उपलब्ध नहीं होने से टूटे-फूटे मकान में ठहरे, जिसे तत्कालीन भाषा में ढूँढा कहा जाता था। उस ढूँढे में ठहरने से साधुमार्गी संतों को 'ढूँढियाँ' कहकर भी पुकारा जाने लगा। अतः स्थानकवासी, बावीस सम्प्रदाय, बावीस टोला और ढूँढियाँ सब साधुमार्ग के ही उपनाम हैं।

इस प्रकार अनेक संकटों को सहन करता हुआ अपने उपनामों में प्रसिद्धि पाता हुआ साधुमार्ग अनवरत गति से चल रहा था कि वीर निर्वाण संवत् 2280 के आसपास आचार्य श्री रघुनाथजी ने कंटालिया के श्री भीखणजी स्वामी नामक शिष्य को दयादान की सिद्धान्त-विपरीत प्ररूपणा के कारण संघ से बहिष्कृत कर दिया। गुरु से बहिष्कृत हो जाने पर उन्होंने एक नये पंथ की स्थापना की जो 'तेरहपंथ' के नाम से समाज के समक्ष आया।

इस तरह साधुमार्ग से अनेक सम्प्रदाय, पंथ, मत विभक्त होते गये, परन्तु मूल साधुमार्ग आज भी सुरक्षित गतिमान है और प्रभु महावीर की वाणी के अनुसार इस भरत क्षेत्र में इक्कीस हजार (21000) वर्ष तक निरन्तर चलता रहेगा।

**“जम्बू दीवेणं भन्ते! दीवे भारएवासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवत्तियं काल तित्थे अणुसिञ्जस्सइ गोयमा! जम्बूदीपे**

**भारएवासे इमीसे ओस्सपिणीए ममं एग विसं वास सहस्साइं तित्थे  
अणुसिञ्जस्सइ।”** (भगवती शतक 20 उ. 6)

यद्यपि महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से तो साधुमार्गीय परम्परा अनादि अनन्त अनवरत गतिशील है, किन्तु तत्त्व-महोदधि भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से यह स्पष्ट संकेत दिया गया है कि यह परम्परा अर्थात् महावीर शासन का साधुमार्ग इक्कीस हजार वर्ष तक अनवरत गतिशील रहेगा। अस्तु, यह स्थानकवासी अपर नाम से आज भी गतिशील है। प्रभु महावीर के पश्चात् अनेक महान प्रभावक संघ धूरीण आचार्यों ने इस शासन-उद्यान का बहुत सिंचन किया है।

महान तपोधनी आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म.सा. जैसे क्रांतद्रष्टाओं ने क्रांति-बीजों का वपन किया। महान ज्योतिर्पुंज आचार्य ज्योतिर्धर जवाहर ने उसे सिंचन कर सुविशेष गति प्रदान की एवं शांत क्रांति के अग्रदूत, संयमीय मर्यादाओं के सजग प्रहरी अगाध चारित्रनिधि आचार्य श्रेष्ठ श्री गणेशीलालजी म.सा. ने उन बीजों में सशक्त उर्वरक शक्ति का संचार किया।

**प्रश्न-163 :** प्रभु महावीर द्वारा प्रवेदित साधुचर्या से शारीरिक, आध्यात्मिक और यौगिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साधना कैसी सधती है ?

**उत्तर :** इस प्रश्न के उत्तर में सबसे पहले यह जानना होगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित साधुचर्या के मुख्य सूत्र क्या हैं ?

आगम में उल्लिखित साधुचर्या के मौलिक पाँच सार्वभौम नियम हैं। यथा - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत के रूप में कथित है।

अहिंसा महाव्रत वह है, जिसमें सूक्ष्म एवं आपेक्षिक सूक्ष्म जीवों से लेकर विशाल से विशाल शरीर-धारियों का तथा मानसिक, वाचिक एवं बौद्धिक स्वल्प विकास से लेकर प्रौढ़ विकास युक्त जगत के इन सभी प्राणियों के प्रति आत्मीयता के साथ संव्यवहार का भव्य प्रसंग इस

पहले महाव्रत के प्रसंग से बनता है। अर्थात् इस विराट विश्व में समस्त चैतन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर “**आत्मनः प्रतिकूलानां, परेषां न समाचरेत्**” की उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ करना होता है।

जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में उद्धोषित है कि यथा-

**“सर्व भूयप्प भूयस्स, समं भूयाइ पासवो।  
पिहिया सर्वस्स दंतस्स, पाव कम्मं न बंधइ।।**

(दशवैकालिक) 4/9

अर्थात् जगत के समस्त चराचर प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य हैं। अतः उन आत्माओं को समभावपूर्वक देखता हुआ कर्मों के आगमन को रोककर विकारों का परिमार्जन करता हुआ जो साधु चलता है, उसके पाप कर्म का बन्धन नहीं होता।

जब व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति को व्यवहार में परिणत करता है, तब उस प्रवृत्ति के पीछे दो दृष्टिकोण मुख्यतया रहते हैं। एक विषम और दूसरा सम।

विषम दृष्टिकोण में विकारों की प्रचुरता एवं स्वयं के लिए अन्य की उपेक्षा तथा उपमर्दनादि में निस्संकोच रहता है। उसकी आन्तरिक भावना यह रहती है कि मैं दूसरों की दृष्टि से बचता हुआ अधिक से अधिक कुव्यसनों का पोषण करूँ। उन पोषक साधनों में यदि कोई बाधक बने, तो उनको विनष्ट कर दूँ। ऐसा वह कर पाता है या नहीं, यह बात भिन्न है, पर उसकी आन्तरिक मलिन वासनाएँ इस प्रकार का व्यवहार करने को बाध्य करती हैं। उस व्यवहार में वह ऊपर से अन्य की दृष्टि में भला भी रहना चाहता है, पर भीतर में भलाई की भावना के स्थान पर दूषित भावना कार्यकारी होती है।

अतएव उसकी जीवन वृत्तियाँ विषमता से अनुप्राणित बन जाती हैं। परिणामस्वरूप जो वस्तु जैसी नहीं है, उस वस्तु को उस रूप में देखने लगता है। परहित या पर सुख के लिए कुछ भी परित्याग करने की वृत्ति नहीं जगती। विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करने में संकोच नहीं पाता। क्लेश कंकाश भी उसके जीवन के चारों तरफ घेरा डाल देते हैं।

मन में अहर्निश बुरे विचारों का ताना-बाना बुनते रहता है। वाणी पर भी वह नियंत्रण नहीं कर पाता। शारीरिक प्रवृत्ति भी प्रायः मन का अनुसरण करती है, जिससे आश्रवजनित कर्मों के साथ-साथ मानसिक रोग का भी प्रादुर्भाव न्यूनाधिक रूप में निर्मित होता रहता है।

इसी प्रकार का पोषण निरन्तर मिलता रहे, तो वही रोग मानसिक भूमिका से फैलता हुआ शारीरिक आदि रोगों का भी स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसे रोगों का निवारण एलोपैथिक आदि उपचारों से बन नहीं पाता। बल्कि आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति क्षत-विक्षत हो जाता है, क्योंकि एलोपैथिक आदि चिकित्सक शारीरिक आदि चिह्नों के आधार पर उपचार की पद्धति में दत्तचित्त रहते हैं और उसका निदान सही नहीं होने पर विषैली (पोईजन युक्त) औषधियों का प्रयोग उन पर करते रहते हैं, जिससे शरीर आदि की पोषक कोशिकाएँ भी विनष्ट होती रहती हैं और विभिन्न प्रकार के विषों से शरीर मर जाता है। जो एक दृष्टि से आयु के लिए उपक्रम बन जाने से आयुष्य का अपवर्तन भी हो सकता है, जिससे जितनी आयुष्य लेकर आया उतनी न भोगकर कुछेक वर्षों में ही इस जीवन लीला को समाप्त कर परलोकगामी हो जाता है, इस प्रकार विषमता जनित प्रवृत्तियों में प्रायः संसार के अधिकांश प्राणी प्रभावित हैं। जिससे आध्यात्मिक अवनति के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक आदि क्षतियाँ बनती हैं और अर्थ की विपन्नता यथासंभव बनती ही जाती है।

जीवन में एकरूपता नहीं रहने से छल, कपट, निर्दयता आदि प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप इस लोक के साथ परलोक भी अंधकारमय बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में साधुचर्या तो दूर रही, मानवीयचर्या भी भव्य तरीके से नहीं बन पाती है।

साधुचर्या सम दृष्टिपूर्वक प्रवृत्त होती है। समता भाव में समरस पूर्ण प्रत्येक क्रिया का प्रवाह प्रवाहित होता है। उसमें प्रत्येक आत्मा को स्वयं के तुल्य समझने के साथ-साथ तदनुकूल व्यवहार का प्रसंग आता है। जो बात तटस्थ भाव से अपने लिए हितकर मानता है, वही बात अन्य के लिए भी सोचता है। स्वयं निर्भय रहता हुआ अन्य सभी के

लिए निर्भयता देता है। स्वयं में निर्भय एवं निष्कंप की अवस्था तभी प्राप्त कर पाता है, जबकि अन्य को कंपित एवं सम्भ्रान्त नहीं करता है। अन्य की हिंसा को स्वयं की हिंसा मानता है। अन्य की सुरक्षा को अपनी सुरक्षा समझता है। अन्य के सुख की भावना को अपने सुख की सर्जना समझता है। इसीलिए उसके चरण स्व-पर कल्याणार्थ उठते हैं। उसके हाथ स्व-पर की तुष्टि के लिए होते हैं। उसकी वाणी सर्वत्र मंगलकारी भावना से प्रवाहित होती है। उसके अध्यवसाय सदा पवित्र उर्मियों से आप्लावित रहते हैं।

परिणामस्वरूप चलते समय उसकी दृष्टि युग प्रमाण (साढ़े तीन हाथ भू-भाग) को अवलोकन करती हुई एकाग्र रहती है। वाणी मधुर एवं सभी के हृदय को प्रमुदित करनेवाली होती है। उसकी आजीविका हेतु होनेवाली प्रवृत्ति छोटे-मोटे प्राणियों को अभय देती हुई दृष्टिगत होती है। उसके हाथ से किसी भी वस्तु का ग्रहण व विसर्जन अन्तरावलोकन के साथ होता है। सार्थक पदार्थों को व्यर्थ में विनष्ट नहीं होने देता है। निस्सार- किसी के भी काम नहीं आने योग्य पदार्थ का विसर्जन भी अहिंसा देवी की साक्षी में करता है। मानसिक भूमिका सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि परिधि को लांघकर असीम विराट भावनाओं से समरस होती हुई विश्व कल्याणकारी होती है। उसकी अहिंसक भूमिका पर छोटे व बड़े किसी भी प्राणी को विनष्ट करने की भावना तो दूर रही, विनष्ट सम्बन्धी छोटी-सी चिनगारी को भी अपने लिए विष वृक्ष समझता है। उसकी चेतना इतनी सजग रहती है कि इधर-उधर के वायुमण्डल से प्रविष्ट होनेवाले कुविचारों की गंध को किंचिदपि अवकाश नहीं मिलता, बल्कि सत्यनिष्ठ एवं सद्विचारों से हृदय-हृद लबालब भरा रहता है। वही अमृत तुल्य विचार वाणी के बल से प्राणीमात्र को संतृप्त करते हैं। जिसकी जिह्वा भौतिक रस की अपेक्षा आध्यात्मिक रस को आस्वादित करने के लिए तत्पर रहती है। जिसकी त्वचा अनुकूल एवं प्रतिकूल संस्पर्शों में भी समता की अनुभूति करनेवाली लगती है। जिसकी कर्णन्द्रय निन्दा-प्रशंसा आदि शब्दों को निर्लिप्त भाव से श्रवण करती है। जिसके चरण किसी भी प्रकार की आवाज को स्वीकार नहीं करते,



क्योंकि आवरण की ओट में यत्किंचित् किसी को कष्ट होने पर उस कष्ट को स्वयं का कष्ट मानकर चलते हैं।

किंबहुना शरीर के प्रत्येक अणु-अणु से प्रशान्त रस का निर्झर बहता रहता है। जिसका मस्तिष्क सम्पूरिपूर्ण केन्द्र से युक्त होता हुआ, अपनी समुचित शारीरिक संचर्या को नियंत्रित करता रहता है। एक क्षण के लिए भी किसी भी अवयव को विषमता की ओर नहीं मुड़ने देता। इस प्रकार की अवधानता योग साधना की पृष्ठभूमि के सहारे सत् चित्त आनन्द घन निष्कलंक निरावरण समग्र शक्तियों से सम्पन्न चैतन्य अलौकिक प्रकाश से सम्पन्न स्वयं के निजी स्वरूप को पर पदार्थों के सम्पर्क से समग्र सूक्ष्म एवं स्थूल आवरणों को समाप्त कर स्वयं की चरम सीमा को छूने रूप परम समाधि को संप्राप्त होता है। यदि कदाचित् उस जीवन से उतनी साधना न भी कर सके, फिर भी जिस जीवन को निरोग निष्पाप पवित्रता के क्षणों में व्यतीत करता है। सद् विचारों से भरा हुआ समरस को प्रत्येक अणु में प्रवाहित करनेवाला मन स्वयं निर्विकार एवं सभी प्रकार के दूषणों से रहित रहता है। वह अपने अनुरूप तथा अपने पद-चिह्नों पर शरीर को भी चलाने में समर्थ बन जाता है।

मनोविज्ञान की तुला से भी इस विषय को संतुलित किया जाये, तो ज्ञात होगा कि आज तक जितनी भी मनोविज्ञान की भूमिका विकसित हुई है, उस भूमिका को भी उपरोक्त अनुभूतिपरक विषय संशोधन-परामर्श-विमर्श दे सकता है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान का आधार वृत्तक वृत्तान्त होता है अर्थात् भूतकालीन विषय होता है और आध्यात्मिक पृष्ठभूमिका त्रिकालिक है, जो वर्तमान तथा भविष्य के जीवन सम्बन्धी तथ्यों को उजागर करनेवाली बनती है। अर्थात् आदर्श की पवित्र वेला में यथार्थ की पवित्र भूमिका का दिव्य प्रतीक बनती है।

उपरोक्त पद्धति से प्रभु महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधुचर्या संवहन करनेवाला साधक शारीरिक, आध्यात्मिक यौगिक एवं वैज्ञानिक समग्र भूमिकाओं को भव्य तरीके से संवहन करता हुआ जीवन के चरम तक

पहुँचने का प्रावधान प्राप्त कर लेता है। आवश्यक है प्रतिपल-उत्कर्ष। प्रतिक्षण होनेवाले कार्य में उपयोग का प्रकाश (लाइट) अनवरत चलता रहे।

सर्वप्रथम वन्दन सूत्र की प्रक्रिया जब उपयोग सहित विधिवत् बनती है, तब शारीरिक अवयवों का समीचीन तरीके से व्यवहार होता है। जैसे जब वन्दन करने के लिए सीधे खड़े होकर करबद्ध हो करों को भृकुटि के सीध में रखते हुए आवर्तन करता है, तब उसके सीने एवं हस्त से बंधी छोटी-बड़ी नसों का मुख्यतया यौगिक प्रक्रियाओं का अनुसंधान बनता है। आवर्तन के पश्चात् दोनों घुटने एवं दोनों हाथ तथा मस्तिष्क जमीन पर लग जाने पर सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों एवं मांसपेशियों की प्रक्रियाएँ सधती हैं तथा शरीर में एक नव स्फूर्ति जागृत होती है।

इस प्रकार कई बार वन्दन होने से आध्यात्मिक साधना के साथ रक्त संचार की प्रक्रियाएँ बिना रुकावट सर्वत्र होने लगती है, जिससे रक्त संशोधन रूप शारीरिक आदि शुद्धि का अनायास प्रसंग बनता है। जो कि यौगिक प्रक्रिया के अन्तर्गत की एक प्रक्रिया है। जिससे योग साधना में भी संबल मिलता है।

जहाँ तक ध्यान का प्रश्न है, उसमें भी मन की वृत्ति को व्यवस्थित करने का प्रसंग है। उसे व्यवस्थित बनाने में इस यौगिक प्रक्रिया के साथ उपयोग का संलग्न रहना नितांत आवश्यक बन जाता है, जिससे मन की एकाग्रता के साथ उपयोग का नियमित सिलसिला बन जाता है। फिर उपयोग से आंतरिक वृत्तियों का समिश्रण करना सहज हो जाता है। जो कि समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया कहलाती है।

इसी प्रकार साधु जीवन की दैनिक प्रक्रियाओं के साथ उपरोक्त रीति से सम्बन्ध जोड़ने पर समीक्षण ध्यान सहज रूप से ही प्रबल बनने लगता है। इसे सहजिक योग की पद्धति कह सकते हैं। जिसमें किसी प्रकार की कोई अनिष्ट अवस्था नहीं बन सकती। ऐसे तो हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग का उल्लेख न्यूनाधिक रूप में प्रचलित है। पर हठयोग आदि की प्रक्रियाएँ शारीरिक अवयवों के साथ कई प्रकार के प्राणायाम आदि से सम्बन्धित है। उन प्रक्रियाओं में भी

कुछ प्रक्रियाएँ व्यवस्थित न बनने पर कई तरह की आपत्तियाँ आ सकती हैं, योग्य निर्देशक के साथ उन आपत्तियों से कदाचित बचा भी जा सकता है। फिर भी उनसे प्रधानतया शारीरिक अवयवों की एवं सूक्ष्म प्राण संचालन आदि की प्रक्रियाएँ ही सध सकती हैं, किन्तु जीवन का सर्वांगीण विकास का प्रावधान प्रायः नहीं बन पाता, क्योंकि शक्ति का संक्षय या विनिमय इन प्रक्रियाओं को साधने में ही प्रायः समाप्त हो जाता है। नवीन ऊर्जा का स्रोत जिस मात्रा में जितना उद्घटित होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता।

एतदर्थ साधना में समग्र समय लगाने पर भी सर्व विकास का प्रसंग प्रायः नहीं बन पाता, क्योंकि समीक्षा ध्यान की प्रक्रिया का कोई प्रावधान विधिवत लक्ष्य के साथ उन हठयोगादि में दृष्टिगत नहीं होता, जिससे चरम सिद्धि नहीं हो पाती। किन्तु समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया में, लक्ष्य सम्यक्तया विधिवत दृष्टि-बिन्दु होने से जीवन का समग्र रूप व्यवस्थित बनता है। साथ ही आवश्यकतानुसार राजयोग आदि कई प्रक्रियाएँ सहजिक योग से समाविष्ट हो जाती हैं।

इसलिए प्रारम्भ से ही सहजिक योग की प्रक्रिया से प्रारम्भ कर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर यात्रा का कार्य प्रारम्भ किया जाये, तो साधक स्वयं की समग्र वृत्तियों का संशोधन परिमार्जन करता हुआ साधना में गति कर सकता है। साथ ही सहजिक रूप में भौतिक एवं आध्यात्मिक ऊर्जाओं का अखूट भण्डार भी प्राप्त कर सकता है। जिससे कि अनिर्वचनीय शक्ति का नियंत्रण करता हुआ चिन्मय परम समतारस की पराकाष्ठा की अनुपमेय आनन्दानुभूति को सदा सर्वदा के लिए उपलब्ध कर सकता है।

इस उपलब्धि के अन्तर्गत विश्व में प्रचलित जितनी भी योग जनित उपलब्धियाँ हैं, उन सब का समावेश भव्य तरीके से हो जाता है। अतः साधक को वर्तमान में उपलब्ध स्वकीय शक्ति को वर्धमान (वृद्धिगत) करनी ही, तो समीक्षण ध्यान को मध्य नजर रखकर प्रभु महावीर द्वारा प्रवेचित सहजिक योग का अनुसरण करना योग्य है।

**प्रश्न-164** : साधु के स्थान पर रात्रि को बहनें प्रवेश कर

सकती हैं क्या ? अथवा स्त्री युक्त मकान में साधु रह सकते हैं क्या ?

**उत्तर :** श्रमणवर्ग पाँच महाव्रतों को अंगीकार करके उनकी परिपूर्ण रूप से आराधना करता है। उन महाव्रतों की सुरक्षा के लिए शास्त्रों में विविध प्रकार के नियम व उपनियमों का संविधान किया गया है। पाँच महाव्रतों में चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। ब्रह्मचर्य साधना का मूल हृदय है। इसकी सुरक्षा साधना की सुरक्षा है। अतः इस महाव्रत की सुरक्षा के लिए विविध नियम व उपनियमों का विधान है। उन विधानों में साधु के निवास स्थान सम्बन्धी विधान इस प्रकार है :-

**जं विवित्त मणाइण्णं रहियं इत्थि जणेण य  
बम्भ चेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु नि-सेवए।**

-उत्तरा. 16/1

**मूलार्थ :** जो स्थान विवित्त अर्थात् पुरुष, पशु व नपुंसक के अभाववाला हो एवं इनके आवागमन से रहित हो और स्त्रीजन से रहित हो, उस स्थान को साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सेवन करे।

**टीका :** इस गाथा में साधु को ऐसे विवित्त स्थान में निवास करने का आदेश है, जहाँ पर पुरुष-स्त्री, पशु-स्त्री और नपुंसक का निवास न हो तथा आकीर्णता से रहित अर्थात् जहाँ स्त्री आदि का पुनः-पुनः एवं अकाल तथा रात्रि में आवागमन न हो, ऐसे एकान्त उपाश्रय आदि में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करे। यहाँ पर 'आलय' शब्द सामान्य बसति का बोधक है। अतः कोई भी स्थान हो, परन्तु उक्त दोषों से अर्थात् पुरुष- स्त्री, पशु-स्त्री और नपुंसक से रहित एकान्त होना चाहिए, तब ही साधु समाहित चित्त से वहाँ रह सकता है। अन्यथा सूत्र में वर्णित शंका और संयम-भेद आदि दोषों का होना सम्भावित है। यह टीका का तात्पर्य है।

इस गाथा में "आलय" शब्द स्थान एवं वसति का वाचक है। "निसेवए" = रहे। स्थान कैसा होना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकारों ने निवास स्थान के तीन विशेषण दिये हैं- वे इस प्रकार हैं-

पहला विशेषण है- "विवित्तं" अर्थात् जो स्थान मनुष्य जाति

एवं पशु जाति की स्त्री एवं नपुंसक - जो कि तीनों काम क्रीड़ा के योग्य बन सकते हैं, ऐसे निवास स्थान में साधु न रहे अथवा जहाँ पर साधु का निवास हो, वहाँ पर ऐसे व्यक्ति न रहें।

शिष्य प्रश्न करता है कि ऐसे व्यक्ति साधु के निवास स्थान में निवास तो न करते हों, लेकिन मनुष्य-स्त्री किसी वस्तु को मकान में रखने के लिए या मकान में से निकालने के लिए अकाल (दिवस का अवसान एवं रात्रि का अवसान काल) में आवागमन करे, तो क्या आपत्ति है ?

इसके उत्तर में दूसरा विशेषण दिया है- “अनाकीर्णम्” उसका टीकाकार ने अर्थ करते हुए लिखा है कि आकीर्णता से रहित अर्थात् जिसमें स्त्री आदि का पुनः पुनः अकाल में आवागमन न हो। इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि में ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करे।

पुनः प्रश्न किया गया है कि वस्तु आदि को ले जाने की दृष्टि से तो स्त्री आवागमन न करे। जिस प्रकार दिन में व्याख्यान आदि श्रवण किया जाता है, उसी प्रकार रात्रि के समय में भी व्याख्यान श्रवण एवं धर्म-ध्यान के लिए साधु के निवास स्थान की सीमा में स्त्री जाति भी अगर व्याख्यान श्रवण व धर्म- ध्यान करे, तो क्या हर्ज है ?

इसके उत्तर में भी इसी मूल गाथा में “रहियं इत्थि जणेण” (रहितं स्त्रीजनेन) स्त्रीजन से रहित-यह तीसरा विशेषण दिया है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के 16 वें अध्ययन की प्रथम गाथा में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जहाँ एक विशेषण से काम चल सकता था, वहाँ तीन विशेषण दिये गये हैं। इन तीनों विशेषणों की सार्थकता तभी हो सकती है, जब सूर्यास्त के बाद एवं सूर्योदय के पहले स्त्री जाति का साधु के निवास-स्थान में प्रवेश न हो।

ऐसे निषिद्ध समय में स्त्री जाति का ब्रह्मचारी साधु के मकान की सीमा में प्रवेश होने पर यदि साधु उसका निषेध नहीं करता है और अनुमोदन करता है, तो निशीथ सूत्र में साधु को चातुर्मासिक दण्ड बताया है। वह निशीथ सूत्र का पाठ निम्न प्रकार है-

**सूत्रम् :-जे भिक्खु राओ वा वियाले वा इत्थिमज्झगये।**

**इत्थिं संसते इत्थि परिवुडे अपरिमाण याए।।**

**कहं कहइ कहेतं वा साइज्झइ।।**

राओ वा=रात्रीवा, वियाले वा=विकाले वा, तत्र विकालः दिवसावसाने रात्रि प्राग्भावे। रात्र्यावसाने-दिवस प्राग् भावे वर्तते।

**भाष्यम् :- राओयवियालेवा, इत्थि मज्झ गओ मुणी।**

**पमाण मइरेणेण कहाओ दोस मा वहे।।1।।**

ब्रह्मचारी संत वर्ग के निवास स्थान पर अकाल अर्थात् दिवस के अवसान एवं रात्रि के अवसान काल में तथा रात्रि के समय स्त्री जाति के लिए आना वर्जनीय है। अतः ऐसे अकाल और रात्रि के समय में स्त्री समुदाय के मध्य तथा स्त्री से संसक्त एवं परिवृत्त न रहे। ऐसे प्रसंग पर अपरिमित वार्तालाप भी न करे।

परिमित वार्तालाप का तात्पर्य कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरों से है, जैसे- जिस मकान में मुनिराज विराज रहे हैं, उस मकान के बाहर सूर्यास्त के बाद एवं सूर्यास्त के पहले यदि कोई बहिन मकान की सीमा के बाहर से पूछती है कि 1. मकान में कौन है? उस समय अगर कोई भाई न हो, तो साधु को प्रत्युत्तर देना आवश्यक है। अतः साधु उत्तर देता है कि हम साधु हैं। मकान में रह रहे हैं। स्त्री यदि पुनः प्रश्न करे कि 2. कहाँ से पधारे हैं? तो साधु को जवाब दे सकता है कि अमुक गाँव से आये हैं। स्त्री पुनः प्रश्न करे कि 3. आप किसकी आज्ञा में विचरण करते हुए यहाँ पर विराज रहे हैं ? एवं 4. कब तक बिराजेगें ? तो साधु पुनः जवाब दे सकता है कि हम अमुक आचार्यश्री के अज्ञानुवर्ती हैं एवं सम्भवतः हम अमुक समय तक यहाँ ठहर सकते हैं। फिर प्रश्न करे कि 5. क्या व्याख्यान देंगे ? तो उत्तर दिया जा सकता है कि सूर्योदय के बाद व्याख्यान के समय में यथावसर व्याख्यान देने की भावना है, इत्यादि।

इस प्रकार यदि प्रश्नोत्तर का कोई प्रसंग उपस्थित हो, तो साधु द्वारा अधिक पाँच प्रश्नों का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है। यह परिमित

कथन है। छठा प्रश्न पूछने पर अपरिमित कथन की श्रेणी में माना गया है। छठे प्रश्न का उत्तर देना, दोष सेवन करना है। अर्थात् आज्ञा भंगादि रूप दूषण का सेवन करना माना गया है। यथा-

**“एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच प्रश्नोत्तर रूपमति कुम्पषष्ठादि प्रश्नोत्तर रूपां कथां कथयति “कहाओ” कथात् एतादृश कथा करणतः दोषं आज्ञा-भंगादि रूप दूषणं आपदयेत् प्राप्नुयात्।”**

जब छठे प्रश्न का उत्तर देना भी आज्ञा के उल्लंघन आदि दोष का सेवन माना गया है, तो प्रहर रात्रि व्यतीत होने तक व्याख्यान आदि कथाएँ करना नितान्त अपरिमित एवं दोषपूर्ण है। अतः वर्जनीय है।

अपरिमित कथा करने से उन स्त्रियों के माता-पिता-पुत्रादि तथा स्वजन-सम्बन्धियों के मन में शंका उत्पन्न हो सकती है और वे समझ सकते हैं कि ये साधु निर्लज्ज हैं। अकाल में तथा रात्रि में स्त्रियों से वार्तालाप कर रहे हैं। इसलिए लम्पट भी दिखते हैं। यदि ऐसा नहीं हो, तो रात्रि के समय स्त्रियों से बिना विचारे चिरकाल तक कैसे बातचीत करते ? इस कारण वे साधु के प्रति अविश्वासी भी बन सकते हैं एवं कुपित होकर साधु को ताड़न भी कर सकते हैं। यथा- आवेश में आकर राजपुरुषों द्वारा साधुओं को पकड़वाने की भी चेष्टा कर सकते हैं और यह प्रसंग संयम विराधना एवं धर्म की अवहेलना का कारण भी बन सकता है। यथा-

**“तेन संयम विराधना, आत्म विराधना।  
धर्मस्य अवहेलना च भवितुमर्हति।।”**

इस प्रकार बहुत से प्रसंग से बचने के लिए साधु को रात्रि और विकाल में स्वयं अपरिमित कथा नहीं करनी चाहिए। यदि कोई साधु ऐसा करता है, तो उसे इसका अनुमोदन भी नहीं करना चाहिए। यह भाष्य की गाथा का तात्पर्य है। ऐसे दोषों का सेवन करनेवाले साधु को प्रायश्चित-स्थान का सेवन करनेवाला माना गया है और उसकी शुद्धि के लिए “चाउम्मासियं परिहार द्वाण” चातुर्मासिक प्रायश्चित बतलाया

गया है।

यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त शास्त्र के आशय को न मानकर कुर्तक करे कि स्त्रियाँ जैसे दिन में आती हैं, वैसे रात्रि में भी आती हैं, तो क्या हर्ज है ?

इसका बहुत सहज किन्तु तर्कसंगत उत्तर है कि जिस प्रकार साधु के स्थान पर सूर्यास्त के बाद एवं सूर्योदय के पहले स्त्रियों का धर्म-श्रवण आदि के लाभ के लिए आना उपयुक्त एवं शास्त्र सम्मत माना जाये, तो ठीक उसी तरह तर्क उठानेवालों की दृष्टि से साध्वियों के लिए भी सूर्योदय के पहले एवं सूर्यास्त के बाद धर्म -श्रवण आदि लाभार्थ आना स्वीकार किया जाना चाहिए। धर्म लाभ तो महिलाओं की तरह साध्वियों के लिए भी आवश्यक एवं लाभकारी है और जब संसार अवस्था की स्त्री जाति, जिसके ब्रह्मचर्य की अधिकतर मर्यादा नहीं है, उसके अकाल एवं रात्रि के आने पर कोई खतरा पैदा नहीं हो सकता, तो साध्वियाँ तो पूर्ण ब्रह्मचारिणी एवं पंच महाव्रतधारिणी हैं, उनके अकाल एवं रात्रि आवागमन से खतरे की सम्भावना क्यों कर होगी ? आदि।

इस विषय में शास्त्रीय दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र के 16 वें अध्ययन की गाथा का प्रमाण ऊपर अर्थ सहित दिया जा चुका है। यदि कोई इस निषिद्ध प्रवृत्ति का उल्लंघन करता है, तो निशीथ सूत्र में उल्लंघन का चौमासी प्रायश्चित्त बतलाया है। उत्तराध्ययन के अध्याय 32 की गाथा 13 में कहा है कि-

**जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।**

**एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स ख्रमोनिवासे॥**

**मूलार्थ :** जैसे बिल्लियों के रहने के स्थान पर चूहों का रहना प्रशस्त योग्य नहीं है। उसी प्रकार स्त्रियों के समीप ब्रह्मचारी का निवास करना उचित नहीं है।

**टीका :** बिल्ला-मार्जार के समीप मूषकों (चूहों) को रहने से उनको हानि की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती



(निवास स्थान) में रहने से ब्रह्मचारी को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। इसीलिए उनका वहाँ रहना उचित नहीं। स्त्रियों के साथ परस्पर के सम्भाषण और मिलाप में उनके ब्रह्मचर्य में दोष लगने की हर समय शंका बनी रहती है तथा अल्पसत्ववाले जीव के पतित होने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा में सावधान रहनेवाला साधु इनके संसर्ग में आने का कभी भी साहस न करे। यहाँ पर “आवसह= आवसत्थ” शब्द आलय व वसति का वाचक है।

जिस प्रकार बिल्ली के समीप चूहों का रहना हितकर नहीं, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप बसना ब्रह्मचारी के लिए भी अनेक प्रकार के दार्षों को उत्पन्न करनेवाला है। यह भाव उपर्युक्त गाथा में आये हुए प्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है।

विविक्त स्थान में रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड़ जाये, तो उस समय भी उसको देखने की मन में इच्छा न करनी चाहिए।

**हृत्थ-पाय-पिडिच्छिन्नं, कण्ण नास विगप्पियं।  
अविवाससयं नारिं, बम्भयारीं विवज्जाए।।**

-दशवै. अध्या. 8, गाथा 56

पदान्वय : हृत्थ पाय पिडिच्छिन्नं=जिस स्त्री के हाथ-पैर कट गये हों और कण्ण नास विगप्पियं=कान-नाक कटी हुई हो अथवा विकृत हो गयी हों, अविवाससयं=जो सौ वर्ष की आयुवाली पूर्ण वृद्धा एवं जर्जरित शरीरवाली हो गयी हो, नारिं=ऐसी स्त्रियों के संसर्ग को भी ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी साधु विवज्जाए=त्याग दे अर्थात् स्त्रियों का संसर्ग कदापि न करे।

जब ऐसी वृद्ध एवं कुरूपा नारी का सम्पर्क भी शास्त्रकारों ने निषिद्ध किया है, तो फिर अन्य नारियों का विकाल और रात्रि के समय तो नितान्त निषेध है ही।

इसलिए प्रत्येक साधक को अपने ठहरने योग्य स्थान का सम्यग् निरीक्षण करना चाहिए।

साधु-साध्वी जिस उपाश्रय-स्थान में ठहरें, उसके स्वामी या व्यवस्थापक का नाम-गोत्र जान लें और उनके यहाँ से आहारदि ग्रहण

न करें। स्थान की अनुमति देनेवाला गृहस्थ शय्यान्तर है और उसके यहाँ का आहार लेना पिण्डैषणा में वर्जनीय बताया है।

साधु खुले स्थान और बिना किंवाड़वाले स्थान में ठहर सकता है, परन्तु साध्वियाँ नहीं ठहर सकतीं। इस प्रकार शय्या-अर्थात् उपाश्रय-स्थान सम्बन्धी नियमों का पालन करना शय्यैषणा समिति है।

साधु शेषकाल में एक स्थान पर अधिक से अधिक उनतीस दिन रह सकता है और साध्वियाँ अद्वावन दिन तक। इस कल्प को पूरा कर लेने पर साधु को दो मास से पूर्व फिर उस स्थान पर आना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार साध्वियों ने दो मास का कल्प पूरा कर लिया है, तो उससे दुगुने समय तक अन्यत्र विचरण किये बिना उस स्थान पर पुनः आना नहीं कल्पता। इस प्रकार शय्यैषणा के विभिन्न नियम प्रतिपादित हैं। उनका पालन करते हुए मुनि को निर्दोष स्थान की गवेषणा करनी चाहिए और गृहाधिपति की आज्ञा से यथाकल्प यथाविधि वहाँ ठहरना चाहिए।

**प्रश्न-165 :** विद्युत सचित है या अचित ?

**उत्तर :** यंत्रवादिता के इस युग में विद्युत की सचितता एवं अचितता का प्रश्न एक ज्वलन्त रूप ले चुका है, अतः इसका विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन अधिक उपयोगी होगा।

**जे दीहलोग-सत्थस्स ख्रेयण्णे, से असत्थस्स ख्रेयण्णे।**

**जे असत्थस्स ख्रेयण्णे, से दीहलोग-सत्थस्स ख्रेयण्णे।।**

-आचारांग प्र.अ.

पंच स्थावरकाय जीवलोक में वनस्पतिकाय जीवलोक को “दीर्घलोक” कहा गया है। यहाँ दीर्घ शब्द अवगाहना से सम्बन्धित है। पाँच स्थावर एकेन्द्रिय कहलाते हैं। उनमें चार की अवगाहना अंगुल के अंसख्यातर्वे भाग प्रमाण है और वनस्पति की अवगाहना जघन्य अंगुल के अंसख्यातर्वे भाग तथा उत्कृष्ट एक हजार योजन से अधिक मानी गयी है। (प्रज्ञापना अवगाहना पद) वनस्पति की विश्व में अधिक प्राचुर्यता है। उस प्राचुर्यता के कारण आगमों में उसे “दीर्घलोक” कहा

जाता है। उस दीर्घलोक वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्निकायिक (तेजस्काय) जीव होते हैं, जो हरित वनस्पति को भी जलाकर राख कर देते हैं, तो अन्य विश्ववर्ती प्राणियों का तो कहना ही क्या ? अर्थात् अग्नि शस्त्र विश्व के सभी प्राणियों का घातक है। वह अति तीक्ष्ण एवं प्रचण्ड है। इसके संताप से सभी प्राणी कितने खेदित होते हैं, यह स्व-अनुभूति से जाना जा सकता है। किसी भी व्यक्ति के जरा-सी अग्नि-चिनगारी लग जाती है, तो वह चीख उठता है। जिस स्थान को वह चिनगारी छूती है, उस स्थान पर फफोला हो जाता है। बहुत समय तक उसकी पीड़ा से खेदित होता है। इतनी-सी चिनगारी भी व्यक्ति को कितना विह्वल बना देती है, इसकी अनुभूति स्वयं करता है, इसी अनुभूति के आधार पर सोचा जा सकता है कि अग्नि शस्त्र (तेजस्काय) जगतवर्ती सभी प्राणियों के लिए अत्यन्त भयावह पीड़ा से पीड़ित करनेवाला तथा मृत्यु तक को प्राप्त करनेवाला है। इसलिए यह भलीभाँति स्पष्ट है कि इससे भयंकर अर्थात् इसके समान जगत में दूसरा कोई शस्त्र नहीं। प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है :-

**“णत्थि जोइसम्मि सत्थे, तम्हाजोइं ण दीवए”**

-अ. 35, गाथा 12

ज्योति-अग्नि (जाज्वल्यमान-तेजस्काय) के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है। अतः अग्नि का प्रज्वलन न करें।

जैसा प्रलयंकर शस्त्र अग्निकाय है। ठीक इसके विपरीत अग्निकाय (तेजस्काय) का असमारंभ रूप संयम है। संयम से बढ़कर अन्य कोई अस्त्र नहीं हो सकता। अर्थात् अग्निकाय शस्त्र (तेजस्काय) जैसे विश्ववर्ती समग्र प्राणी लोक के लिए घातक एवं भयावह है। वैसे ही समग्र प्राणी लोक के लिए अभयंकर, प्राणरक्षक संयम रूप शस्त्र है। इस संयम रूप शस्त्र को जिसने भली-भाँति जाना है, माना है, स्वीकारा है, उसने समस्त विश्व के प्राणियों की सभी वेदनाओं को जाना है, और आत्मीय भावना के साथ किसी भी प्राणी को किंचित् मात्र भी किसी प्रकार से कष्ट परिवेदना न देना, न दिलवाना और न देनेवाले को अच्छा समझना।

मन, वचन, काया से, तीन करण, तीन योग के साथ ऐसे दृढ़ संकल्पी पुरुष विश्व के छोटे-बड़े सभी प्राणियों के खेद को जाननेवाले होते हैं। इसलिए वे “**खेदज्ञ**” कहलाते हैं। जो खेदज्ञ होते हैं, प्राणियों के खेदोत्पादक बड़े से बड़े शस्त्र को जानते हैं। इसलिए उपयुक्त सूत्र में तीर्थेश प्रभु महावीर ने कहा है :-

### जे दीर्हलोग सत्थस्स.....

जो दीर्घलोक शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) एवं उससे होनेवाले समारंभ तथा उससे होनेवाले प्राणियों के खेद-परिताप को जाननेवाला होता है, वही अशस्त्र रूप संयम को जाननेवाला होता है। वह दीर्घलोक शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जाननेवाला होता है। इस प्रकार इस सूत्र में हेतुहेतुमद्-भाव सन्निहित है।

**जिज्ञासा :** प्रस्तुत सूत्र में अग्नि (तेज) को दीर्घलोक शब्द से क्यों कहा गया ? मूल सूत्र में अग्नि या तेजस्काय शब्द का ही क्यों नहीं प्रयोग किया गया ? अथवा क्या किसी प्रयोजन को लक्ष्य कर दीर्घलोक शस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है ?

**समाधान :** जिज्ञासा समीचीन है। प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान टीकाकार ने इस प्रकार दिया है-

**अत्राच्यते : प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति। यस्मादयमुत्त्याद्यमानो ज्वालयमानो वा हव्यवाहः समस्त भूतग्रामघाताय प्रवर्तते, वनस्पतिदाह प्रवतस्तु बहुविधसत्त्व संहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमिपिपीलिकभ्रमरकपोतश्वापदादयः सम्भवन्ति, तथा पृथिव्यामपि तरुकोटरव्यवस्थिता स्यात् आपोप्यवश्यायरूपाः वायुरपीषच्चंचलस्वस्थिताभाव कोमलकिशलयानुसारी सम्भाव्यते, तदेवमग्निसमारम्भ प्रवृत्तः एतावन्तो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति। तथाचोक्तं :-**

जायेतेयं न इच्छन्ति, पावगं जलइतए।  
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ पि दुरासयं॥

**पाङ्गं पङ्गिं वावि, उडुं अणुदिसामवि।  
अहे दाहिणओ वावि, दहेउत्तरओ वि य॥  
भूयाणमेषमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।  
तं पड्व पयावट्ठा, संजओ किंचि नारंभे॥**

अग्नि (तेजस्काय) को सूत्रकार ने दीर्घलोक शस्त्र कहा है। वह प्रेक्षापूर्वक ही कहा है, निरभिप्राय नहीं, क्योंकि यह अग्नि (तेज) उत्पन्न होती हुई, जलती हुई समस्त प्राणियों के घात के लिए प्रवर्तित होती है।

वनस्पति काय के दाह के साथ तो यह अग्नि अन्य जीवों के लिए विशेष रूप से दाहकारी होती है, क्योंकि वनस्पति के आश्रित कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, कपोत, श्वापद आदि अनेक जीव रहते हैं तथा पृथ्वी भी वृक्ष के मूल से सम्बन्धित होती है। पानी भी पृथ्वी के आश्रित अवश्य रहता है। वायु की भी चंचल स्वभाव के कारण हिंसा होती है। इस प्रकार अग्नि का समारम्भ करनेवाला षट्कायिक जीवों की हिंसा करता है।

इस बात को सूचित करने के लिए अग्नि (तेजस्काय) शब्द का प्रयोग न करे “दीर्घलोक शस्त्र शब्द” का ग्रहण किया गया है।

कहा भी है- अग्नि(तेजस्काय) को जलाने की इच्छा न करे, क्योंकि इससे बढ़कर तीक्ष्ण एवं दुराश्रय शस्त्र कोई भी नहीं है। यह जब प्रज्वलित होती है, तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऊर्ध्व, अधो दिशा, अनुदिशा में निवसित प्राणियों के लिए आघातकारी होती है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं। इसलिए संयति पुरुष को इसका आरम्भ नहीं करना चाहिए।

आगे टीकाकार ने लिखा है-

.....अतो दीर्घलोक :- पृथिव्यादिस्तस्य शस्त्रं  
अग्निकायस्तस्य “क्षेत्रज्ञो” निपुणः अग्निकायं वर्णादितो  
जानातित्यर्थः, “खेदज्ञो-वा” खेदः तद् व्यापारः सर्व सत्वानां  
दहनात्मकः पाकाद्यनेक शक्ति- कलापोचितः प्रवरमणिरिव  
जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेशः यतीनाममनारम्भणीयाः,

तमेवंविधं खेदम् अग्नि व्यापारं जानातीति खेदज्ञः, अतो य एव दीर्घलोक शस्त्रस्य खेदज्ञः स एव “अशस्त्रस्य” -सप्तदश-भेदस्य संयमस्य खेदज्ञः, संयमो हि न कश्चिज्जीवं व्यापादयति अतो शस्त्रम् एवमनेन संयमेन सर्व सत्त्वाभयप्रदायिना अनुष्ठीयं मानेनाग्नि जीव विषयः समारम्भशक्यः परिहर्तुं पृथि- व्यादिकाय समारम्भश्चेत्येवमसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदित परमार्थोऽग्नि समारम्भाद्व्यावृत्त्य संयमानुष्ठाने प्रवर्तते।

इदानीं गत-प्रत्यागत लक्षणेनाविनाभावित्व प्रदर्शनार्थं विपर्ययेण सूत्रावयव परामर्शं करोति।

**जे असत्थस्सेत्यादि, यश्चाशस्त्रे-संयमे निपुणः स खलु दीर्घलोक शस्त्रस्य अग्नेः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्याग्नि विषय खेदज्ञात्वम्, अग्नि विषय खेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसम्भव एवेत्येतद्गत प्रत्यागत फलमाविर्भावितं भवति।**

इसलिए जो दीर्घलोक-पृथ्वी आदि शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जानता है, वह “क्षेत्रज्ञ” है। वह अग्नि के वर्णादि को जानता है। अथवा वह “खेदज्ञ” होता है। अग्नि के कार्य दहन, पाचन आदि अनेक प्रकार के हैं। प्रवर मणि की भाँति वह जाज्वल्यमान होती है। इसलिए संयती को अग्नि (तेज) का समारम्भ नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जो अग्नि के व्यापार को जानता है, वह अग्नि (तेजस्काय) का “खेदज्ञ” होता है। वह दीर्घलोक शस्त्र का खेदज्ञ, “अशस्त्र” अर्थात् सतरह प्रकार के संयम का खेदज्ञ होता है। संयम किसी जीव का व्यापादन नहीं करता, अतः अशस्त्र है। इस प्रकार संयम द्वारा सभी प्राणियों को अभय प्राप्त होता है। उसका अनुष्ठान करनेवाले संयमी की निपुण मति होती है। उस मति से पृथ्वी आदि के समारम्भ स्वरूप अग्नि के व्यापार का परिहार करता है। इसलिए निपुण मतिवाला होने से जिसने परमार्थ को जान लिया, वह अग्नि (तेजस्काय) के समारम्भ से व्यावृत्त होकर संयमानुष्ठान में प्रवृत्ति करता है।

जो अशस्त्र स्वरूप संयम में निपुण है, वह निश्चय ही दीर्घलोक शस्त्र अग्निकाय शस्त्र (तेजस्काय) का क्षेत्रज्ञ है। यहाँ अहिंसा और संयम परस्पर अविनाभाव सम्बन्धवाले हैं। असंयमी कदापि अहिंसक नहीं हो सकता और हिंसक कभी संयमी नहीं हो सकता।

अग्नि शब्द-तेजस्काय के अन्तर्गत अनेक भेदों में से एक भेद है। तेजस्काय के समस्त भेद शस्त्र रूप में हैं। इसका द्योतक दीर्घलोक शस्त्र के शब्द से सूत्रकार ने किया है।

शास्त्रकारों ने तेजस्काय की भंयकरता के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया है। तेजस्काय और दीर्घलोक शस्त्र के अन्तर्गत समग्र भेद-विभेद सन्निहत हो जाते हैं, जिसमें “विद्युत” को भी तेजस्काय स्वीकृत किया जाता है।

विद्युत की सचितता आगम के परिप्रेक्ष्य में :-

1. श्री पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में- तेउकाय के वर्णन में बादर तेउकाय अनेक तरह की बतायी गयी है। जिसमें बिजली “विद्युत” तथा (संघरिस समुद्धि) संघर्ष से समुत्पन्न हुई अग्नि को भी बादर तेउकाय में ग्रहण किया है।

“जे यावणे तहप्पगारा” के पाठ से और भी वैसी ही अनेक तरह की अग्नियाँ ग्रहण की गयी हैं। बिजली संघर्ष से उत्पन्न होती है।

2. उत्तराध्ययन सूत्र के 36 वें अध्ययन में “विज्जु” शब्द से विद्युत को अग्नि में लिया है। (बादर तेउकाय के रूप में लिया है।)

3. श्री अभिधान राजेन्द्र कोष में पृ. 2347 पर तेउकाय शब्द की व्याख्या में पिण्ड निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरि, कल्प-सुबोधिका, बृहत्कल्प वृत्ति से उद्धरण है। जिससे अग्निकाय तीन तरह की- 1. सचित, 2. अचित, 3. मिश्र बतायी है। सचित दो तरह की-1. निश्चय और 2. व्यवहार।

1. निश्चय सचित अग्नि- ईंटें पकाने की भट्टी, कुम्हार की भट्टी आदि भट्टियों के बीच की अग्नि एवं विद्युत आदि निश्चय अग्निकाय होती हैं।

2. व्यवहार सचित अग्नि : अंगार (ज्वाला रहित अग्नि) आदि।

3. मिश्र तेजस्काय : मुर्मुर (चिनगारियाँ) आदि।

4. अचित तेजस्काय : अग्नि द्वारा पके हुए भोजन, तरकारियाँ, पेय पदार्थ एवं अग्नि द्वारा तपाकर तैयार की हुई सूई, कतरनी आदि गृह-सामग्री तथा राख, कोयला आदि ये अचित तेजस्काय हैं। इसमें बिजली को अचित नहीं, सचित माना है।

5. सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के तृतीय अध्ययन में त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित तथा अचित शरीरों में पृथ्वी, अप, तेउकाय आदि रूपों में प्राणी पूर्वकृत कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं, ऐसा उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि बैट्री, दियासलाई, ताम्बे के तारों में सचित तेउकाय उत्पन्न होती है।

6. भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के दूसरे उद्देशक में सिर्फ सचित अग्नि के मृत शरीर को अचित अग्नि कहा है, (बनावटी) कृत्रिम विद्युत आदि की अग्नि को नहीं।

7. भगवती सूत्र के सातवें शतक के 20 वें उद्देशक में- अचित प्रकाशक तापक पुद्गल में सिर्फ क्रोधायमान साधु की तेजो लेश्या गृहीत किया है। परन्तु बिजली को नहीं।

**तेजस्काय की सजीवता :** अग्नि ही जिसका शरीर हो, उसे तेजस्-काय कहते हैं। रात्रि में जुगनू का शरीर चमकता है, प्रकाश देता है। वह प्रकाश जीव की शक्ति का प्रत्यक्ष फल है। इसी प्रकार अग्नि में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ पायी जाती हैं। उससे भी विभिन्न प्रकार का प्रकाश निकलता है। वह प्रकाश जीव के संयोग के बिना नहीं निकल सकता। इस अनुमान से अग्नि में जीवत्व प्रमाणित होता है।

ज्वर आने पर जीवित शरीर अंगारे की तरह उष्ण हो जाता है। यह उष्णता जीव के संयोग के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि मृत शरीर में यह उष्णता उपलब्ध नहीं होती।

मनुष्य का शरीर आहार आदि की संप्राप्ति से वृद्धि को पाता है और उसकी अप्राप्ति से कुछ होने लगता है। इसी तरह अग्नि (तेजस्काय) भी ईंधन की संप्राप्ति से धधकती है और ईंधनभाव में शनैः शनैः शान्त होने लग जाती है।



**वैज्ञानिक विवेचन :** जिस प्रकार मनुष्य ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड छोड़ता है। हवा के अभाव में दम घुटने लगता है। यहाँ तक कि जीवन दीप निर्वाण (बुझ) को भी प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि भी श्वास लेने में ऑक्सीजन ग्रहण करती है और छोड़ने में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर निकालती है। जबकि आगमिक दृष्टि से श्वासोच्छ्वास वर्णना के पुद्गलों को ग्रहण करती है और उन्हें श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत कर छोड़ती है। अर्थात् अग्नि (तेजस्काय) हवा में ही जीवित रहती है-जलती है। किसी बर्तन से ढक देने या हवा मिलने के साधन के अभाव में आग तत्काल बुझ जाती है। प्राचीन बंद कूप में अथवा भूमिगृह में, जो कई वर्षों से बंद हों, उसमें जलता हुआ दीपक रख दिया जाये, तो तुरन्त बुझ जाता है। इसका कारण जीवित रहने के लिए आवश्यक प्राणवायु का अभाव है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि तेजस्काय के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेद ऑक्सीजन ही ग्रहण करें और न ही ऐसा नियम है। इस विषयक स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

अग्निकाय (तेजस्काय) के जीवों के शरीर की प्रकृति उष्ण है। अतः अति उष्णता में जीवित रह सकें, इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। फिनिस्स पक्षी अग्नि में गिरकर नव-जीवन प्राप्त करता देखा जाता है।

आज के प्रचलित विद्युत-बल्ब में भी पोलार की स्थिति रही है। उस पोलार में वायु विद्यमान है। तार आदि सभी विद्युतीय उपकरणों के अन्तर्गत भी वायु विद्यमान है। अतः विद्युतीय अग्नि में भी श्वासोच्छ्वास का प्रसंग बन जाता है। बाहर जलनेवाली तेजस्काय का ख्राद्य पदार्थ लकड़ी, घास-फूस मिट्टी का तेल आदि है। बल्ब में जलनेवाली विद्युत् का ख्राद्य पदार्थ टंगस्टन के तार आदि हैं। वे जलते रहते हैं। कदाचित् कोई कहे कि एक ही जाति के प्राणियों का एक ही प्रकार का आहार और एक ही प्रकार का श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है क्योंकि, इस विश्व में रहनेवाले जीवों की जातियाँ विविध प्रकार की हैं। उनमें एक ही जाति के अवान्तर अनेक भेद माने

गये हैं और उन भेदों में आहार तथा श्वास की भी भिन्नता रहती है। सर्वप्रथम मनुष्य को ही ले लें- मनुष्य जाति के अवान्तर अनेक भेद हैं। उन भेदों में वसित मनुष्यों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। हिम-प्रदेश में जन्म लेनेवाले मनुष्य वहाँ की शीत एवं शीत से संयुक्त वायु को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। जबकि रेगिस्तान, राजस्थान आदि प्रदेश के मानव स्वनुकूल हवा के अभाव में वहाँ (हिम-प्रदेश में) रहने में असमर्थ हैं।

सुना गया है कि अन्य प्रदेशों के व्यक्ति जब हिम-प्रदेश में जाते हैं, तो ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त एक अंगीठी भी अपने सीने पर बाँधते हैं।

इसके अतिरिक्त वनस्पति जाति में भी विचित्रता पायी जाती है। कोई वनस्पतियाँ तो जितना अधिक पानी बरसता है, उतनी अधिक अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलित होती हैं, किन्तु जवासा नामक वनस्पति उतनी ही अधिक कुम्हलाती है। यद्यपि वनस्पति जाति की अपेक्षा से ये समान हैं, फिर भी जलवायु, आहारदि की अपेक्षा इनमें भिन्नता पायी जाती है।

आगम में अग्नि की सात लाख योनियाँ एवं तीन लाख कुलकोटि कथित है। इसका समर्थन आधुनिक-विज्ञान से होता है। वैज्ञानिकों ने अग्नि के अगणित प्रकार स्वीकार किये हैं और इसका वर्गीकरण चार मुख्य भागों में किया है-

1. कागज और लकड़ी आदि में लगनेवाली आग।
2. आग्नेय-तरल पदार्थ एवं गैस की आग।
3. विद्युत तारों में लगनेवाली आग।
4. ज्वलनशील धातु-ताम्बा, सोडियम और मैग्नेशियम में लगनेवाली आग।

अग्नि के प्रकारों की भिन्नता से भी स्पष्ट प्रगट होता है कि अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले कारणों में भी मौलिक विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का मिलना, लकड़ी की पायरोलिसेस पानी क्रिया, रेडेशियम हीट-ट्रांसफर पवन प्रसंग आदि आग के प्रकारों की भिन्नता के कारण ही प्रत्येक प्रकार की आग बुझाने के उपाय भी भिन्न-भिन्न काम में लिए

जाते हैं।

वैसे सामान्यतः आग पानी से बुझायी जाती है, परन्तु यदि बिजली से लगी आग को पानी से बुझाने का प्रयत्न किया जाये, तो इससे बुझानेवाले को भारी धक्का लगता है। कारण पानी बिजली का सुचालक (कन्डक्टर) होता है। पेट्रोलियम आदि ज्वलनशील तरल पदार्थों पर पानी डाला जाता है, तो आग बुझने के बजाये ज्यादा फैल जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार की आग पानी डालकर नहीं, बल्कि रेत आदि अन्य पदार्थ डालकर बुझायी जाती है। चूने पर पानी पड़ने से उसका भभक उठना व उससे उसकी वाहक ट्रैकें आदि के जल जाने की घटनाएँ तो सुनी ही जाती हैं।

लोहे की छड़ों के प्रसंग से बर्फ में भी आग लगती देखी गयी है। वैज्ञानिकों ने आग बुझाने के लिए विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का अन्वेषण किया है। ज्वलनशील तरल पदार्थों की आग बुझाने के लिए पोटेशियम बाइ कार्बोनेट या पर्पिल के पाउडर का उपयोग किया जाता है। मोनो अमोनियम फास्फेट भी आग बढ़ने से रोकने की क्षमता रखता है।

कुछ आधुनिक विद्वानों का कहना है- **“बिजली अग्नि नहीं, एक शक्ति है, ऊर्जा है। ऊर्जा और अग्नि ये दोनों एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न भौतिक पदार्थ (द्रव्य) हैं।”** किन्तु इस प्रकार का कथन करनेवाले महानुभाव जैन-दर्शन के तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ हैं। **“बिजली और अग्नि”** ये दोनों तेजस्काय के भेद हैं। दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं और शक्ति-युक्त पदार्थ हैं। शक्ति-ऊर्जा यह पदार्थ का गुण है, जो पदार्थ से कभी भी पूर्णतः भिन्न नहीं रह सकता। जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्य की ऊर्जा हैं, वे कभी भी सूर्य से पूर्णतः भिन्न नहीं हो सकतीं। यदि किरणें पूर्णतः भिन्न हो जायें तो किरणें, किरणें नहीं रहेंगी और न ही सूर्य, सूर्य रहेगा। वैसे ही अग्नि में उष्णता-ताप यह उसकी शक्ति है। उष्णता-ताप अग्नि से पूर्णतः भिन्न नहीं रह सकती। ऊर्जा को अग्नि से पूर्णतः भिन्न मानना तात्त्विक दृष्टि की अनभिज्ञता प्रगट करना है।

वैज्ञानिकों के अनुसार आत्मा कुछ क्राण्टम कणों का समूह है। क्राण्टम कण ऊर्जा के संवाहक के रूप में स्वीकार किये गये हैं। और यह माना जाता है कि ताप, विद्युत और प्रकाश आदि सभी की मूल इकाई, ये ही क्राण्टम कण हैं।

(हिन्दुस्तान-18/8/82)

अतः वैज्ञानिक दृष्टि से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि **‘ऊर्जा और अग्नि’** सर्वथा भिन्न द्रव्य नहीं हैं। यदि यह कहा जाये कि- **‘बिजली अदृश्य ऊर्जा है, क्योंकि वह उसके मूल स्वरूप में आँखों को दिखायी नहीं देती।’**

जिसका मूल स्वरूप आँखों से दिखायी न दे, वह ऊर्जा है, यह कथन भी युक्ति से बहुत दूर है।

जैन-दर्शन की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्य आँखों से नहीं देखे जा सकते, तो क्या वे सभी ऊर्जा रूप हैं, द्रव्य नहीं हैं। जैन-दर्शन का स्वल्प ज्ञाता भी अरूपी द्रव्यों को अस्वीकार नहीं कर सकता। अर्थात् अरूपी द्रव्यों को गुण-सम्पन्न मानता ही है। वायुकाय आँखों से नहीं देखी जाती, तदपि गुण-सम्पन्न वायुकाय जीवद्रव्य रूप में स्वीकृत है ही।

जैसे मनुष्य शरीर की आत्मा भी मूल स्वरूप में आँखों से नहीं दिखाती। तदपि उसके ज्ञानादि गुण की अभिव्यक्ति से ऊर्जा सम्पन्न आत्म-द्रव्य माना जाता है। जैसे आत्मा की शक्ति, ऊर्जा आत्मा से भिन्न नहीं रहती। वैसे ही बिजली-विद्युत के अदृश्य होने पर भी मूल स्वरूप में आँखों से नहीं दिखायी देने पर भी, वह द्रव्य नहीं है - ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि झटका लगना, यह विद्युत द्रव्य का गुण है। उसकी ऊर्जा शक्ति से अन्य माध्यम मिलने पर प्रकाश और ताप अभिव्यक्त होते हैं। प्रकाश और ताप ये गुण हैं। गुण गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रह सकते। सिर्फ आँखों से अदृश्य पदार्थ को ऊर्जा मान लेनेवाले महानुभाव, प्राचीन काल के नास्तिकों का हास्यास्पद पार्ट तो अदा नहीं करते हैं ?

कुछ विद्वानों का कथन है कि “**बिजली वाहक तार को स्पर्श करे, तो झटका लगता है और हमें उसके अस्तित्व का अनुभव होता है। लेकिन वह दिखायी नहीं देता है।**”

यह कथन भी वदतोव्याघात के तुल्य है। विद्युत का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करनेवाला व्यक्ति उसके अस्तित्व का अनुभव करता है। अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि जिसका अस्तित्व है, वह द्रव्य है और ऊर्जा उसका गुण है।

यदि कोई यह कहे कि “**पेड़ पर बिजली गिरी, तो पेड़ जलकर राख नहीं होता है। सूखता है, मरता है।**”

तो यह कथन सर्वथा अयौक्तिक है। उन्हें इतना भी ध्यान नहीं है कि बिजली की मात्रा कम होने से सूखता है, पर अधिक मात्रा होने पर तो पेड़ जलकर राख हो जाता है। जैसे कि दो तारों में परस्पर रगड़ होने पर तार जलकर राख हो जाते हैं। ऐसे प्रसंग प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। तार वनस्पति से अधिक सख्त है। जहाँ अति सख्त वस्तु की भी राख हो जाती है, तो बिजली की अधिक मात्रा होने पर पेड़ की राख कैसे नहीं होगी ?

सुना जाता है कि-बड़े-बड़े शहरों में लकड़ियों के अभाव में मनुष्यों का दाह-संस्कार विद्युत से किया जाता है और उसकी राख हो जाती है। इस कथन से भी सिद्ध हो जाता है कि बिजली में राख करने की क्षमता है। पर विद्युत की मात्रा कम होने से जलकर राख नहीं हो पाता। अग्नि की भी मात्रा कम होगी, तो वह किसी की राख नहीं कर पायेगी, बल्कि सुरा देगी।

प्रख्यात वैज्ञानिक सर जे. जे. टामसन ने हिसाब लगाकर बताया कि- यदि किसी एक परमाणु के भीतर जो शक्ति संगठित है, वह बिखर जाये, तो क्षणांश में ही लंदन जैसे घने बसे हुए तीन बड़े शहर राख हो जायें। यह विद्युत अणुओं की शक्ति पर आधारित गणना थी। अब पता चला है कि इन विद्युत अणुओं की मूल इकाई अति सूक्ष्म प्रकाशाणु है। उनकी शक्ति अनेक गुणा अधिक है।

इस उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि राख करना विद्युत

अणुओं की मात्रा पर निर्भर है।

लेकिन इतने मात्र से बिजली तेजस्काय नहीं है- यह कथन असमीचीन है।

यह कथन भी कि “**बिजली, अग्नि, उष्णता, प्रकाश ये चारों एक-दूसरे से भिन्न हैं**” - तत्त्वों की सर्वथा अनभिज्ञता ही सूचित करता है। यदि अल्पांश में भी तत्त्व का स्वरूप समझा होता तो, उष्णता और प्रकाश को अग्नि या विद्युत से भिन्न कभी नहीं कहा जाता, क्योंकि उष्णता और प्रकाश पदार्थ के गुण हैं। अग्नि और विद्युत दोनों तेजस्काय पदार्थ हैं। अतः उष्णता और प्रकाश ये दोनों अग्नि और विद्युत के गुण हैं। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं रहता। एतद् विषयक उल्लेख एवं वैज्ञानिक प्रमाण पूर्व में दिये जा चुके हैं।

आकाशीय विद्युत और प्रयोगशाला की विद्युत दोनों विद्युत जाति तेजस्कायिक हैं। वैज्ञानिक भी आकाश एवं प्रयोगशाला की विद्युत को एक मानते हैं। यह कथन इतना सरल है कि विज्ञान का अध्ययन करनेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी इससे अनभिज्ञ नहीं रह सकता।

डॉ. डी. एस. कोठारी ने भी स्पष्ट कहा कि जो अग्नि (तेजस्काय) आम जनता की दृष्टि में दृष्ट है। वह यदि शास्त्रीय परिभाषा से सचित है, तो विद्युत निश्चित सचित है।

यदि यह कहा जाये कि “**जहाँ ज्वलन प्रक्रिया चल रही है, वहीं अग्नि होती है और इस प्रक्रिया को प्राणवायु (ऑक्सीजन) का मिलना बहुत जरूरी है।**”

तो यह कथन उपयुक्त है, किन्तु प्राणवायु का अग्नि जाति के विषय में सिर्फ ऑक्सीजन हवा का ही मानना युक्तियुक्त नहीं है। भिन्न-भिन्न जाति के प्राणीवर्ग में भिन्न-भिन्न प्राणवायु अपेक्षित रहता है। दीपक आदि की अग्नि के लिए कदाचित् ऑक्सीजन प्राणवायु है, किन्तु अन्य अग्नि के लिए अन्य प्राणवायु भी हो सकती है। शास्त्रीय दृष्टि से तो सभी प्राणियों के लिए प्राणवायु श्वासोच्छ्वास वर्णना के पुद्गल ही होते हैं।

इसीलिए शास्त्रकारों ने ऑक्सीजन आदि वायु विशेष का नाम

न लेकर सिर्फ प्राणवायु का उल्लेख किया है। यदि शास्त्रकारों की दृष्टि में कोई वायु विशेष ही तेजस्काय के अन्तर्गत सभी भेदों के लिए प्राणवायु होती, तो वे सामान्य प्राणवायु का ही उल्लेख न कर स्पष्टतया तेजस्काय के लिए ऑक्सीजन आदि वायु विशेष को ही प्राणवायु कह देते। पर ऐसा कथन नहीं है और यह होना शक्य भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में परिदृष्ट है- मनुष्य के लिए प्राणवायु-ऑक्सीजन की आवश्यकता।

अतः जलन प्रक्रिया के लिए कार्बन प्राणवायु की आवश्यकता एवं वनस्पति के लिए कार्बन प्राणवायु की आवश्यकता है। अतः जलन प्रक्रिया के लिए सिर्फ प्राणवायु-ऑक्सीजन का ही मिलना जरूरी नहीं, बिजली के बल्ब में पोलार रहती है। यदि किन्चित् भी वायु न रहे, तो बल्ब सिकुड़कर टूट जायेगा।

यदि कोई कहे कि “**बिजली का स्विच ऑन करते हैं, उससे बल्ब प्रज्वलित होता है। हमें प्रकाश मिलता है। दस-पन्द्रह मिनटों बाद बल्ब गरम भी लगने लगता है। इस तरह जहाँ प्रकाश है, वहाँ उष्णता है, लेकिन क्या बल्ब में ज्वलन क्रिया हो रही है ? बिल्कुल नहीं।**”

किन्तु यह कथन तो ‘घटकुट्याँ प्रभात’ न्याय का अनुसरण करता है। पूर्व में जो कहा कि विद्युत, प्रकाश और उष्णता भिन्न हैं। उसका खंडन इसी वाक्य में उपदर्शित है। यदि विद्युत का गुण प्रकाश और उष्णता नहीं होता, तो स्विच ऑन करने पर प्रकाश नहीं होता, प्रत्युत् प्रकाश को अन्य तत्त्व का अन्वेषण अपेक्षित होता, किन्तु ऐसा होता नहीं। विद्युत से प्रकाश का आविर्भाव हुआ। इससे यह सुस्पष्ट है कि विद्युत तेजस्कायिक द्रव्य है और प्रकाश उसका गुण है। तत्काल बल्ब गरम भी लगने लगता है। गरम लगना विद्युत का उष्णता गुण है। अब रहा प्रश्न ज्वलन का, इस पर यदि मीमांसा की जाये, तो बल्ब के भीतर में टंग्स्टन (एक खनिज द्रव्य) तार का ज्वलन हो रहा है और यदि वहाँ दीर्घ समय तक ज्वलन होता रहे, तो उष्णता से तापमान की

वृद्धि से अन्य पदार्थ भी जल सकते हैं। पतंगे उसी बल्ब की उष्णता में मूर्छित होकर चार-पाँच बार टक्कर खाकर मर जाते हैं। बल्ब के भीतर भले ही ऑक्सीजन न हो, पर अन्य वायु तो विद्यमान रहती ही है और वह उस तेजस्काय के लिए प्राणवायु का काम करती है। अन्यथा ज्वलन क्रिया के अभाव में प्रकाश और गरमी भी समाप्त हो जायेगी।

यदि कोई कहे कि- “विश्व में कुछ द्रव्य ऐसे हैं, जो उत्तम वाहक हैं। कुछ द्रव्य बिजली के दुर्वाहक हैं। उत्तम वाहक से बिजली प्रवाहित हो सकती है, दुर्वाहक से नहीं। हर एक धातु, पानी, शरीर, क्षार, आम्ल, पृथ्वी (जमीन) आदि बिजली के उत्तम वाहक हैं। लकड़ी, एबोनाइट, काँच, लाख, तेल, गंधक, चीनी, मिट्टी, रबड़, प्लास्टिक आदि बिजली के दुर्वाहक हैं। क्षारयुक्त पानी बिजली का उत्तम वाहक होने से ये दोनों मानो आपस में मित्र हैं। इसके विपरीत पानी और अग्नि ये दोनों परस्पर शत्रु हैं।”

उपर्युक्त तर्क भी मीमांसा की कसौटी पर समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि “काष्ठ आदि बिजली के दुर्वाहक हैं, यह बात बिजली तत्व का अपूर्ण ज्ञाता साधारण बुद्धिवाला जीव ही कह सकता है, विद्युत तत्व का विशेषज्ञ नहीं। विशेषज्ञ का कथन है कि सामान्य पाँवर की बिजली के लिए काष्ठादि भी दुर्वाहक हो सकता है, पर विशिष्ट पाँवरवाली बिजली के लिए काष्ठादि भी दुर्वाहक तो क्या, भस्मीभूत होते देखे गये हैं। पानी में भी बड़वानल विस्तृत होती देखी गयी है तथा दुर्वाहक (दुः+वाहक) शब्द ही अर्थ स्पष्ट कर रहा है कि काष्ठादि पदार्थ वाहक तो हो सकते हैं, किन्तु कठिनता से।”

उपर्युक्त कथन करनेवाला व्यक्ति यदि विद्युत एवं अग्नि विषय का परिपूर्ण ज्ञाता होता, तो वह इस कुतर्क से जन सामान्य को भ्रमित नहीं करता। ऐसे भी तत्व विश्व में विद्यमान हैं कि अग्नि के सुवाहक एवं ज्वलनशील पदार्थों की सत्ता होने पर भी प्रतिबन्ध तत्व की विद्यमानता से आग भी उस “सुवाहक” तत्व से प्रवाहित नहीं हो सकती एवं दहनीय तत्व को दग्ध भी नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन



व ऑक्सीजन दोनों ही गैसों हैं। दोनों ही ज्वलनशील हैं, किन्तु जब यही दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, तो न केवल वे गैस से तरल स्थिति में आ जाते हैं, अपितु जलाने की अपेक्षा उसका गुण बुझाने का हो जाता है। इस स्थिति में ज्वलनशीलता नष्ट नहीं होती, प्रत्युत वह भीतर रहकर पोषण और शक्ति का आधार बन जाती है। चन्द्रकान्त मणि के सामने (समीप) आग को कार्पास पर रख देने पर भी वह उसको प्रज्वलित करने में समर्थ नहीं हो सकती। काष्ठ भी पास में पड़ा रहे, तो भी अग्नि उसमें प्रवेश नहीं कर पाती इतने मात्र से अग्नि की ज्वलनशीलता का निषेध नहीं कर सकते। प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्त मणि) की विद्यमानता से अथवा पाँवर की न्यूनाधिकता से ज्वलन क्रिया कहीं नहीं भी बनती है और कहीं बन भी जाती है।

दो विभिन्न प्रकार की धातुओं अथवा धातु मिश्रण के तारों के सिरे यदि पिघलाकर जोड़ दिये जायें और उनके सिरों को विभिन्न तापमान पर रखा जाये, तो उनमें विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगेगी, यह तार विद्युत है।

दो तारों के परस्पर संघर्ष से धातु के तार भी भस्मीभूत हो जाते हैं। ज्वालाएँ दृष्टिगत होती हैं। इन प्रत्यक्ष दृश्यों से भी भलीभाँति सिद्ध है कि विद्युत ज्वलनशील है। फिर दुर्वाहक सुवाहक साधनों का नाम लेकर विद्युत के उष्ण एवं प्रकाश गुण को भिन्न मानना-छिपाना “**माता मेंवन्धया**” की तरह प्रलाप मात्र है।

यदि कोई कहे कि “**पानी और बिजली का प्रवाह जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो न पानी उड़ता है और न बिजली बुझती है।**” कितना मायूस मस्तिष्क! जैसे बिजली की हीट से पानी वाष्प बनकर उड़ जाता है। उसमें माध्यम काम करता है। लेकिन माध्यम में वाष्प बनाने की क्षमता नहीं। वैसे ही विद्युत का माध्यम न हो, तो उसमें भी प्रकाश प्रगट नहीं हो सकता। स्वल्प पानी से भी तड़-तड़ करनेवाली उस विद्युत के स्फुलिंगों को समाप्त किया जा सकता है। अतः पानी और बिजली की तुलना करना और पावर के अनुपात का

ख्याल न करना सुज्ञों के लिए अशोभनीय है।

यदि कोई कहे “**बिजली एक क्षण में दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकती है। अग्नि में यह गुण धर्म नहीं।**”

यह तर्क भी कितना बेतुका है। एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाने मात्र से द्रव्य का निषेध करना असंगत है। जो परमाणु द्रव्य कहलाता है। वह भी एक क्षण में विश्व (14 रज्ज्वात्मक लोक) के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। इस प्रकार गति से द्रव्य की तुलना करना विस्मृत मति का प्रदर्शन कहा जाता सकता है। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि किसी भी पदार्थ की गति-विगति में माध्यम आवश्यक है। एक व्यक्ति माध्यम की अनुकूलता से एक स्थल से दूसरे स्थल पर शीघ्रता से पहुँच जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति माध्यम की प्रतिकूलता से शीघ्र गति नहीं कर पाता। इतने मात्र से एक को सजीव और दूसरे को निर्जीव नहीं कहा जा सकता। एक विचारवान स्वयं समझ सकता है कि शिशु एवं तरुण की गति-मंदता और त्वरित गति से सजीव निर्जीव का विभेद नहीं किया जा सकता।

विद्युत का प्रचण्ड स्वरूप एवं त्वरित गति निश्चित तेजस्काय को सिद्ध करता है। छाने आदि की अग्नि (व्यवहार सचित अग्नि) इत्यादि विषयक ‘**अभिधान राजेन्द्र कोष**’ के प्रमाण भी ऊपर दिये जा चुके हैं।

घर्षण से बिजली के उद्भव की तरह अग्नि का भी उद्भव होता है। यथा - एरण की लकड़ी के परस्पर घर्षण से, पत्थर और चकमक के घर्षण से, माचिस (आग की पेटी) और दियासलाई के घर्षण से। हाँ, घर्षण की न्यूनाधिकता से तत्क्षण चमक का आलक्षित होना, अग्नि का रूप न लेना अथवा विद्युत का पूर्ण प्रगट न होना-यह अलग बात है। पर, घर्षण की पूर्णता एवं तद्जनित तत्त्व को जलने का माध्यम हो, तो वहाँ अग्नि और विद्युत दोनों ही देखे जा सकते हैं।

जनरेटर कितना ही तेज चलता हो, पर यदि घर्षण से उत्पन्न विद्युत को जलने का माध्यम न हो, तो वहाँ विद्युत भी दृष्टिगत नहीं

होती। जैसे वर्षाकाल में नदी का पानी अति वेग से प्रवाहित होता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों से संघर्ष करता है, पर वेग और संघर्ष के परिणाम से जलनेवाला माध्यम न होने से बिजली का प्रवाह दृष्टिगत नहीं होता। इस प्रकार तटस्थ बुद्धि से प्रत्येक स्थल के विषय को हृदयंगम करने पर ही वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ उसका आधार अग्नि या विद्युत होगा ही, पर स्वयं प्रकाश अग्नि या विद्युत धर्म नहीं है, क्योंकि उष्णता की तरह प्रकाश भी अग्नि-विद्युत का गुण है।

चमक को प्रकारान्तर से प्रकाश भी कहा जा सकता है, किन्तु यह चमक रूप प्रकाश अग्नि या विद्युत का गुण नहीं कहा जा सकता। जैसे जुगनू में चमक है, पर वह तेजस्काय का गुण नहीं, क्योंकि उसका शरीर उद्योत नाम-कर्म के उदय से चमकता है। रेडियम धातु आदि भी चमकवाले अवश्य हैं, पर उनमें तेजस्काय का गुण नहीं। इस विवेचन से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि अग्निकाय जैसे बादर तेजस्काय का भेद है, वैसे बिजली भी बादर तेजस्काय का भेद है, लक्षण की समानता होने से ज्वलनादि कार्य भी अग्नि की अपेक्षा विद्युत से कई गुना अधिक होते हैं। इस विषयक वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रमाण एवं आगम प्रमाण ऊपर उल्लिखित हुए हैं। उन प्रमाणों से विद्युत की भयंकरता भी सुस्पष्ट है।

इसीलिए ‘आचाराग’ सूत्र में तीर्थेश प्रभु महावीर ने तेजस्काय को “दीर्घलोक-शस्त्र” के रूप में बतलाया है। दीर्घकाल शस्त्र के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार अग्नि (तेजस्काय) की सजीवता स्वयं ही सिद्ध है। प्रकाश, उष्णता - ये अग्नि (तेज) के गुण हैं। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं रहते। “विद्युत्संघरिस समुद्दिग्” - शब्द से तथा वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अग्नि के चार विभागों में से तीसरा विभाग “विद्युत्तारों में लगनेवाली आग” से अग्नि, लाइट, पंखे, ध्वनि क्षेपक आदि विद्युत से संचालित वस्तुओं में रहनेवाली अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

प्रश्न-166 : आजकल साधु मुनिराज साहित्य प्रकाशन, जयन्ती

मनाना, समारोह मनाना आदि में लगे हुए हैं। इससे पाँच महाव्रतों में कोई दोष आता है या नहीं ?

**उत्तर :** जो साधु मुनिराज अपनी साधु जीवन की मर्यादाओं की सीमा में रहते हुए किसी विशिष्ट पुरुष की जन्मतिथि आदि के निमित्त से सामायिक, पौषध्व्रत, प्रत्याख्यान आदि धर्म-ध्यान करने की प्रेरणा देते हैं और सम्बन्धित विशिष्ट पुरुष के सद्गुणों का प्रतिपादन कर स्व-पर के उत्थान में उन सद्गुणों से प्रेरणा ग्रहण कराते हैं, तो वे अपनी साधु मर्यादा में दोष लगाने की स्थिति में नहीं रहते, बल्कि एक दृष्टि से सद्गुणों की वृद्धि का निमित्त उपस्थित करते हैं।

इसके विपरीत अर्थात् साधु मर्यादाओं को छोड़कर जो आरम्भ-समारम्भ का उद्देश देते हैं। बैड-बाजा आदि के साथ जुलूस को चाहते हैं तथा एतदर्थ प्रेरणा देते हैं एवं यत्किंचित रूप में भी सावद्य प्रवृत्तियों में भाग लेकर जयन्ती आदि का प्रसंग उपस्थित करते हैं या करवाते हैं, तो इस अनुपात से उनके अहिंसादि महाव्रत में दोष लगना सम्भावित है।

साहित्य प्रकाशन का जहाँ तक प्रश्न है, साधु साहित्य प्रकाशन नहीं करवा सकता। श्रावक वर्ग अपनी सीमाओं के अन्तर्गत साहित्य प्रकाशन आदि का कार्य करता है। यदि उसे शास्त्रीय ज्ञान का पूरा अभ्यास नहीं है और शास्त्र विरुद्ध कोई साहित्य उसके द्वारा प्रकाशित न हो जाये, इसके लिए कदाचित् वह आगम मर्मज्ञ सन्त-सती वर्ग से उसका अवलोकन कराता है और सन्त-सती वर्ग भी अपनी मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए अवलोकन कर आगम से विपरीत विषय का संशोधन करवाते हैं तो वह साहित्य प्रकाशन नहीं कहला सकता है और तज्जनित दोषों से लिप्त भी नहीं हो सकता।

जैसे जिज्ञासु व्यक्ति सन्त वर्ग को प्रश्न पूछता है और वे जिज्ञासु की जिज्ञासा निवृत्ति हेतु उत्तर देते हैं या लिखते हैं, उस वक्त लेनेवाला या लिखनेवाला पुनः उन उत्तरों को उत्तरदाता मुनिराज से अवलोकन करवाकर आगमिक त्रुटि को नहीं रहने का अवलोकन करते हैं, तो इसमें मुनिराज दोष के भागी नहीं हो सकते।

यदि कदाचित् उत्तर पानेवाला व्यक्ति अपने स्वधर्मी भाइयों की

व अन्यो की ज्ञान वृद्धि हेतु उन प्रश्नोत्तरों को प्रकाशित करता है, तो यह कार्य प्रकाशित करनेवाले व्यक्ति पर निर्भर है। कदाचित् वह उत्तर लेनेवाला व्यक्ति उस प्रकाशित पुस्तक में ऐसा उल्लेख भी देता है कि अमुक साधु ने मुझे उत्तर दिया, पर मुनिराज अपनी सीमाओं से आगे का अनुमोदन भी नहीं करते हैं, तो वे निर्दोष ही समझ जाते हैं। वैसे ही उपर्युक्त विधि के साथ कोई साहित्य प्रकाशन होता है, तो यह गृहस्थावस्था के व्यक्तियों से सम्बन्धित रहता है।

इस उत्तर में किसी का यह प्रश्न उपस्थित होना सम्भावित है कि साधु ने अपनी मर्यादानुसार ही कार्य किया, पर साधु जी को यह मालूम है कि अमुक व्यक्ति इसको प्रकाशित करनेवाला है या करेगा, वैसी स्थिति में साधुजी ने निषेध नहीं किया, तो वे दोष के भागी बन सकते हैं या नहीं ? इस पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तनीय विषय यह है कि जिस कार्य में शुभ भावना के साथ जन कल्याण का प्रसंग हो और आरम्भ-समारम्भ भी उसके साथ हो, तो वैसी स्थिति में साधु को न निषेध करना और न हाँ करना, बल्कि मध्यस्थ भावपूर्वक रहना ही उपयुक्त है। क्योंकि यदि वह हाँ करता है, तो उससे होनेवाले आरम्भ-समारम्भ के पाप से सम्बन्धित होता है। यदि निषेध करता है, तो जन-कल्याण में बाधक बनता है। जैसे कि केशी श्रमण के समक्ष प्रदेशी राजा आस्तिक बना और मुनि के समीप से जाने की तैयारी करने लगा, तब केशी श्रमण ने कहा कि **“रमणीक होकर अरमणीक मत बनना”** ऐसा सुनकर राजा प्रदेशी ने कहा कि भगवन! मैं रमणीक होकर अरमणीक नहीं होऊँगा। इतने दिन राज्य की आमदनी के तीन हिस्से करके व्यवस्था करता था। पर अब चार हिस्से करूँगा और चतुर्थ हिस्से से दानशालादि बनाकर दीन-दुःखी व अनार्थों की भलाई करता हुआ व्यवस्था रखूँगा। इस आशय के भाव केशी श्रमण ने श्रवण किये, परन्तु ‘हाँ’ या ‘ना’ न कहते हुए मध्यस्थ भाव धारण कर लिया। यद्यपि वे जानते थे कि यह राज्य के चतुर्थ भाग से नया आरम्भ-समारम्भ चालू करेगा, जबकि नास्तिकावस्था में यह कार्य नहीं करता था। तथापि वे यह भी जानते थे कि इसका मैं अनुमोदन करता हूँ, तो

आरम्भ-समारम्भ से सम्बन्धित होता हूँ और निषेध करता हूँ, तो दीन दुःखी आदि प्राणियों के अन्तराय आदि का भागी बनता हूँ। अतः मौनस्थ रहे। 'सूत्रकृतांग सूत्र' में भी बतलाया है-

**जे दाणं पसंसंति वहंमिच्छंति पाणिणो।**

**जे यं से पडिसेहंति वितिछेयं करेत्ति ते॥**

**भावार्थ :** साधक यदि दान की प्रशंसा करता है तो गौण रूप से प्राणियों के वध का अनुमोदन होता है और अगर दान देने का निषेध करता है, तो याचक की वृत्ति का छेद अर्थात् अन्तराय आदि देनेवाला होता है।

इसी प्रकार जन कल्याणकारी साहित्य प्रकाशन आदि कार्य में शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर निष्पृह रूप से मौन भाव (मध्यस्थ) का अवलम्बन लेकर चलता है, तो वह भी उस प्रवृत्ति जनित दोष से सम्बन्धित नहीं होता है।

हाँ, यदि उपर्युक्त शास्त्रीय मर्यादा से भिन्न तरीके से प्रकाशन के लिए आज्ञा देता है, उसके लिए चन्दा एकत्रित करवाता है या प्रेरणा देता है, प्रूफ देखता हुआ आरम्भ-समारम्भ आदि सावद्य कार्यों में भाग लेता है, तो वह भी आरम्भजनित दोषों से अपने महाव्रतों को दूषित करता है।

**प्रश्न-167 :** आजकल सन्त मुनिराजों के सामने जनता जाती है, जबकि पूर्व में नहीं जाती थी। अतः आजकल परम्परा में परिवर्तन क्यों ?

**उत्तर :** मुनिराजों के समक्ष आजकल जनता जाती है, पूर्व में नहीं जाती थी, ऐसा कोई एकान्तिक नियम नहीं है। आगमिक धरातल पर इस विषयक चिन्तन करने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकती है। 'भगवती सूत्र' के दूसरे शतक के उद्देशक पाँच में तुंगियानगरी के श्रावकों के वर्णन में बतलाया है कि-

**“तहारुवाणं थेराणं भगवंताणं नामगोयस्स विसवणयाए किमन्नपुण अभिगमण वंदण नमंसण पडिपुच्छण पञ्जुवा -सणयाए जाव गहणयाए तं गच्छामोणं देवाणुप्पिया।”**

तथारूप स्थविर भगवन्तों के नाम तथा गोत्र श्रवण से जीवों को जब महाफल की प्राप्ति होती है, तो फिर उनके समक्ष जाने से, वन्दन करने से, नमस्कार करने से, कुशल समाचार रूप साता पूछने से, उनकी सेवा करने से, यावत् उनके उपदेश धारण करने से आत्मा का कल्याण हो जाये, तो इसमें कौनसी आश्चर्य की बात है ? इसलिए हे देवानुप्रिय! चलो उन स्थविर भगवन्तों के पास चलें। उन्हें वन्दना करें, नमस्कार करें यावत् उनकी पर्युपासना करें।

कोणिक भी भगवान महावीर के समवसरण की सूचना पाकर ही अन्न जल ग्रहण करता था, जिसके लिए कोणिक ने पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी।

जो सम्राट प्रतिदिन समाचारों को पाकर अन्न जल ग्रहण करने का प्रण (प्रतिज्ञा) ग्रहण कर सकता है, वह उनके समीप में जाने के लिए कितना उत्कण्ठित होगा, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कोणिक सम्राट की जब यह स्थिति थी, तो साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?

श्रीकृष्ण वासुदेव, श्रेणिकादि सम्राट भी चतुरंगी सेना के साथ भगवान के दर्शनार्थ पहुँचते थे। उसमें हाथी, घोड़े, रथ, पैदल के चंक्रमण (गमनागमन) से कितने ही जीवों की हिंसा होती होगी, यह तो श्रेणिक के घोड़े के टाप से मरे मेंढक से अनुमान लगाया जा सकता है।

उदायन महाराज की दीक्षा लेने की तत्परता को जानकर प्रभु महावीर जब वहाँ पधारे, तब उदायन ने सारी नगरी को सजाने आदि की प्रक्रियाएँ की। उन प्रक्रियाओं से सहज ही ज्ञात हो सकता है कि भगवान के आगमन के प्रसंग पर अन्य क्या-क्या नहीं किया गया होगा ?

दशार्णभद्र एवं इन्द्र के आगमन आदि के प्रसंग की घटनाओं का वर्णन भी शास्त्रों में आता है।

यदि इस प्रकार के आवागमन आदि कार्य वीतराग देव एवं उनके द्वारा प्ररुपित आगम के प्रतिकूल होते, तो भगवान महावीर एवं अन्य तीर्थंकर गणधरादि इन उपर्युक्त सभी प्रकार के आवागमन आदि

कार्य को रोकने में सक्षम नहीं होते ?

इस प्रकार समता के धरातल पर कोई भी सुज्ञ पुरुष चिन्तन के क्षणों में जान सकता है कि ये सारे प्रसंग क्या सूचित कर रहे हैं और यह परिपाटी कब से व कैसे चली आ रही है ? यह तो वस्तुस्थिति का कथन मात्र दर्शाया गया है। लेकिन जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी किसी को भी मेरे सामने आने की प्रेरणा नहीं दी। लोग अपनी इच्छा से आये या ना आये, यह उन्हीं पर निर्भर है। ऐसे प्रसंगों का निषेध जब तीर्थंकर गणधरादि ने भी नहीं किया, तो शास्त्रीय मर्यादा के अनुरूप श्रमण पर्याय का पालन करनेवाला सन्त वर्ग कैसे निषेध कर सकता है? वह तो पूर्व महापुरुषों के पद-चिों पर चलनेवाला है।

अतः गृहस्थ वर्ग के कार्य, जो शुभाशुभ से संयुक्त हो, उसमें साधु को केशी श्रमण की भाँति तटस्थ भाव रखना योग्य रहता है।

**प्रश्न-167 :** पुण्य रूपी है या अरूपी ? अरूपी है, तो कैसे? क्योंकि संसारी आत्मा तो रूपी है, तब उस आत्मा का परिणाम (भाव) भी रूपी ही होना चाहिए।

**उत्तर :** बन्ध रूप और उदय रूप जो पुण्य है, वह पौद्गलिक स्वरूप होने से रूपी है, लेकिन तत्सम्बन्धी अध्यवसाय चैतन्य आत्मा का स्वरूप (स्वभाव) होने से अरूपी है। संसारी आत्मा कर्म एवं मन, वचन व काया के पुद्गलों में क्षीर-नीर की तरह मिली हुई होने से रूपी कहलाती है। पर आत्मा का जो स्वभाव है, वह अरूपी है, जैसे दूध और पानी मिल जाने पर भी दूध का माधुर्य एवं पौष्टिकता रूप स्वभाव दूध का ही है न कि पानी का। मन के दो भेद हैं - एक तो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित और दूसरा आत्मा का स्वरूप। जो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित मन है, वह रूपी है व उसकी पर्यायें भी रूपी हैं, पर दूसरा जो भाव मन है, वह अरूपी है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। वह भाव मन द्रव्य मन के साथ ओतप्रोत होने पर भी दूध स्वभाव की तरह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। अतः अरूपी ही रहता है।

जैसे- ज्ञान आत्मा का स्वरूप होने से अरूपी है और वह



अरूपी ज्ञान पदार्थों को भी भली प्रकार जानता है, देखता है, फिर भी उसका अरूपित्व स्वभाव रूपी नहीं बनता और वह ज्ञान रूपी आत्मा में भी होता है। पर उसको रूपी नहीं कहा जा सकता, वैसे ही आत्मा के स्वभाव रूप अध्यवसाय रूपी पदार्थों के साथ ओत-प्रोत होते हुए भी वे अध्यवसाय अरूपी होते हैं।

**प्रश्न-168 :** सामान्य श्रावक एवं प्रतिमाधारी श्रावक का प्रतिक्रमण एक ही समान है या अलग-अलग ?

**उत्तर :** प्रतिमाधारी एवं अन्य श्रावकों के लिए एक ही श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र है, न कि अलग-अलग। व्रतों में लगे अतिचारों की शुद्धि के लिए श्रावक प्रतिक्रमण करता है। श्रमण प्रतिज्ञा नहीं होने से श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण के साथ संयुक्त करना योग्य प्रतीत होता है।

**प्रश्न-169 :** भावी भावना की पुष्टि करने के लिए श्रावक को प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र का उच्चारण करना चाहिए या नहीं ?

**उत्तर :** भावी भावना को परिपुष्ट करने के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रावक प्रतिक्रमण के बाद श्रमणचर्या की जानकारी आदि के लिए श्रमण सूत्र कर सकता है। जैसे कि जिसने एक भी व्रत ग्रहण नहीं किया है, उस श्रावक के लिए प्रतिक्रमण, श्रावक जीवन की जानकारी के साथ-साथ भावी भावना एवं स्वाध्याय के रूप में रहता है।

**प्रश्न-170 :** 'रायप्पसेणी सूत्र' में राजा प्रदेशी के अधिकार में मशक से भरी हुई हवा का दृष्टान्त है, हवा में वजन नहीं है। विज्ञान हवा में वजन सिद्ध करता है, सो कैसे ? प्रमाण सहित स्पष्टीकरण करायें।

**उत्तर :** हवा में वजन तो होता है, ऐसा आगमों में भी मान्य है, क्योंकि वायु को आगम में भी "गुरु लघु" बताया है। इससे वायुकाय में वजन होना सिद्ध होता है। दृष्टान्त वस्तु तत्व को समझाने के लिए दिया जाता है और वह एक देशीय होता है, वह काल्पनिक भी हो सकता है। इसका उल्लेख नदी आदि सूत्रों में भी मिलता है। अतः रायप्पसेणी सूत्र में जो मशक का दृष्टान्त दिया गया है, वह तत्कालीन जन समाज में प्रचलित धारणा को लेकर राजा को तत्वबोध कराने हेतु दिया गया है,

इसलिए वर्तमान विज्ञान से इसमें कोई विरोध का प्रसंग नहीं बनता।

**प्रश्न-171 :** जुआ खेलना हमारे लिए पाप क्यों है ? जबकि हर एक व्यवसायी अधिक लाभ हेतु स्टॉक करता है और उसमें पैसा लगाता है। कभी नुकसान होता है, तो कभी फायदा उठाता है। यह भी एक जुआ है, फिर उन्हें पाप नहीं और हमें पाप क्यों ?

**उत्तर :** जुआ और व्यापार में रात-दिन का अन्तर है। सट्टा, फीचर आदि जुए की श्रेणी में आ सकते हैं, परन्तु कोई स्टॉक रखकर व्यापार करता है, उसे जुआ नहीं कहा जा सकता। व्यापार में घाटा, मुनाफा होता है, जबकि जुए में हार-जीत होती है। जुआ मानवीय संस्कृति में निन्दनीय है, जबकि व्यापार मानवीय संस्कृति में सभ्यों का आचरण है। अतः जुआ और व्यापार को एक मानना युक्तियुक्त नहीं है।

जहाँ तक पाप और पुण्य का प्रसंग है, व्यापार करने में पाप हो सकता है। धर्म या पुण्य ही होता है- ऐसा एकान्त कोई नियम नहीं है। जुए से कई परिवार के परिवार समाप्त हो जाते हैं, जैसे राजा नल पांडव आदि। परन्तु व्यापार से ऐसा कम संभव है।

**प्रश्न-172 :** श्रावक के पहले व्रत में जो पाँच अतिचार का उल्लेख है, उसमें अड़भारे का उल्लेख आया है कि अधिक भार लादना इतना ही बताया है। इसको सिर्फ पशुओं पर भार लादना ही समझना या अन्य प्रकार से मनुष्यादि से भी सम्बन्ध रखता है। जैसे दुकान के अन्दर काम करनेवालों से शक्ति से ज्यादा काम लेना तथा वर्तमान के अन्दर रीति-रिवाज जो कुछ चल रहा है, जैसे दहेज-टीका आदि के सम्बन्ध में, जो कि हैसियत से ज्यादा माँग करने से उसका परिणाम क्या होता है। इसलिए इस प्रकार के विषय पहिले व्रत के अतिचार में आते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** अति भार नामक अतिचार से केवल पशु पर अधिक भार भरना ही नहीं होता है। मनुष्य पर अधिक भार लादना अथवा उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना भी अतिभार नामक अतिचार के अन्तर्गत आ जाता है।

दहेज-टीका आदि की हैसियत से अधिक माँग करना भी अपेक्षा से अतिभार के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

**प्रश्न-173 :** पाँचवें व्रत में मर्यादा का उल्लेख करते हुए बताया है दुपयचउप्पय- जिसमें दुपय में दास-दासी का उल्लेख किया, तो क्या इसके अलावा अपनी स्वस्त्री एक या एक से अधिक विवाह की मर्यादा करना- यह भी दोपद से परिग्रह में आ सकता है ? शास्त्रों में पाँच-पाँचसौ विवाह का उल्लेख आता है। पूछने का तात्पर्य यही है कि दोपद में स्वस्त्री को परिग्रह में समझना या कैसे ?

**उत्तर :** जिस स्त्री से जगत साक्षी से अथवा गन्धर्व विवाह किया गया है, ऐसी विवाहित स्त्री का समावेश चतुर्थ स्वदार संतोष व्रत के अन्तर्गत आ जाता है। इसके अतिरिक्त दास-दासी नौकर आदि दो पैरवाले प्राणियों का दुपय परिग्रह के अन्तर्गत समावेश होता है।

**प्रश्न-174 :** साधु रात्रि में प्रवचन देने के लिए कितनी दूर जा सकता है तथा कितनी रात्रियों तक जा सकता है ?

**उत्तर :** रात्रि में परठने के लिए जितनी भूमि में साधु जा सकता है, प्रवचन के लिए भी रात्रि में उतनी ही भूमि की मर्यादा समझनी चाहिए। वह भी एक ग्राम में अपवाद स्वरूप एक या दो रात्रि, उससे अधिक नहीं।

**प्रश्न-175 :** उपवास में लौंग, त्रिफला, बिरयाली, इलायची आदि का पानी प्रयोग में लाया जाता है। अतः उपर्युक्त वस्तुएँ सादिम जाति की होने से उनके व्रत में सुरक्षा की दृष्टि से बाधा आने की शंका रहती है, अतः कैसे क्या मानना ? व उसी को यदि साधु भी काम में लेवें, तो कैसे क्या मानना ?

**उत्तर :** उपवास में गृहस्थ हो अथवा साधु-धोवन या गरम पानी ही उपयोग में लेना चाहिए। लौंग, त्रिफला आदि द्रव्यों से बनाया गया पानी अचित्त हो सकता है, पर उपवास आदि में उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। हाँ, जिस श्रावक को सचित्त का त्याग हो, वह उपवास के अतिरिक्त दिनों में धोवन एवं गरम पानी के अभाव में यात्रादि के प्रसंग

से लाचारीवश लौंग आदि का पानी उपयोग में लेता हो, तो उस समय भी यह विवेक आवश्यक है कि उस पानी का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बदल जाना चाहिए। त्रिफला एवं बिरयाली आदि का पानी औषधि के रूप में साधु को आवश्यक हो, तो अपवाद रूप में ले सकता है, पर पेय पानी के रूप में लेना नहीं कल्पता।

**प्रश्न-176 :** क्या सप्त कुव्यसन में किसी व्यसन से ग्रस्त रहते हुए भी सामायिक, संवर जैसी साधना करने की योग्यता हो सकती है ?

**उत्तर :** यद्यपि सप्त कुव्यसन खोटे हैं। इसलिए इनको जीवन में स्थान नहीं देना चाहिए। लेकिन जो व्यक्ति इन व्यसनों से ग्रस्त है पर उसकी भावनाएँ बदल रही है, उस समय वह सामायिक संवर की क्रियाएँ करके अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहता है, तो ऐसी स्थिति में ये साधना नहीं हो सकती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सामायिक-संवर करके भी एक दिन वह दुर्व्यसनों को तिलांजली दे सकता है और यदि यह कह दिया जाये कि उसके तो सामायिक हो ही नहीं सकती, चूंकि वह दुर्व्यसनों से ग्रस्त है, तो उसके सुधरने के, परिमार्जित होने के अवसर कब प्राप्त होंगे ? यह विचारणीय बात है। यह ठीक है कि वह सभी दुर्व्यसनों को छोड़कर पवित्र साधना में तन्मय बने, पर वैसी स्थिति नहीं हो और उसको स्वयं को अपने दुर्व्यसनों के प्रति घृणा है, छोड़ने के भाव रखता है, ऐसी स्थिति में उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों को अनुचित नहीं कहा जा सकता।

**प्रश्न-177 :** भारतीय साहित्य में दर्शनों की परम्परा का क्या आधार है ? क्या रूप है ? उनके ऐतिहासिक क्रमों का वर्णन बतलाइए।

**उत्तर :** भारतीय साहित्य विविध विधाओं में विकास को प्राप्त हुआ। भारत में साहित्य की संरचना चिरकाल से चली आ रही है। उसी साहित्य की अनवरत धारा में दर्शन साहित्य विकसित हुआ। जिसने जनमानस में प्रादुर्भूत होनेवाले प्रश्न- यह कौन है ? इसका क्या लक्ष्य है ? संसार क्या है ? इसका कोई सृष्टा है या नहीं ? स्वर्ग-नरक, अपवर्ग निरीह कल्पना है या वास्तविक सत्य ? आत्मा और परमात्मा का क्या रहस्य है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का युक्ति एवं लक्षणों

के साथ यथासम्भव समाधान प्रस्तुत किया है।

युक्तिपूर्वक तर्क संगत तत्व-ज्ञान पाने के महत्व को दर्शन कहा जाता है। भारतीय दर्शनों का आधार भारतीय साहित्य में षट्-दर्शन की संख्या कब से निश्चित हुई- इसका स्पष्ट समाधान इतिहास के पृष्ठों में प्राप्त नहीं होता है।

अदृश्य जगत में स्थित प्रश्नों का समाधान बिना किसी विशेष प्रज्ञा के स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता है। उसके लिए कल्पना, युक्ति एवं तर्कों का सहारा लिया जाता है। दर्शन जगत में भी प्रत्यक्ष की सहायता से अप्रत्यक्ष का प्रतिपादन किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन का आधार है। युक्ति उसका प्रमुख साधन है। प्रत्यक्ष ज्ञान किसके आधार पर है- इसके प्रतिपादन में दार्शनिकों की मुख्यतया दो मान्यताएँ रही हैं। कितनेक दार्शनिकों का यह मत है कि दर्शन-शास्त्र जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर आधारित है, तो कितनेक दर्शनों का अभिमत है कि ईश्वर, मोक्ष आदि अनेक विषयों का ज्ञान जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव के आधार पर नहीं, अपितु आप्त पुस्तकों के अनुभव पर अधिक सटीक रूप से प्राप्त हो सकता है। न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, सांख्य आदि दर्शनों का ज्ञान जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर है, किन्तु जैन-बौद्ध आदि दर्शनों का ज्ञान आप्तपुरुषों पर आधारित है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि दार्शनिकों के विचार मुख्यतया युक्ति पर आधारित हैं। किन्तु कुछ विचारकों का कहना है कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति स्वतंत्र विचारों से नहीं हुई है, वरन् आप्त वचनों से हुई है। अतः भारतीय दर्शन युक्ति से प्रतिपादित नहीं है, किन्तु युक्तिहीन है। लेकिन इस प्रकार का आक्षेप सभी दर्शनों पर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भारतीय दर्शनों में जहाँ आप्त वचनों का आधार माना है, वहाँ युक्ति एवं तर्कों का भी पूरा-पूरा आश्रय लिया है।

प्रमाणों के विषय में चार्वाक प्रत्यक्ष को बौद्ध एवं वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को, सांख्य, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को, नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान को, प्रभाकर मीमांसा व अर्थापति

सहित पाँच एवं कुमारिल्ल भट्ट, मीमांसक तथा वैदान्तिक अभाव सहित छः प्रमाण मानते हैं। सम्भय एवं एतिह्य आदि को भी पौराणिक दर्शनों में प्रमाण माना गया है। किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण मीमांसा विलक्षण प्रकार की है। जैन दर्शन में मुख्यतया दो प्रमाण माने जाते हैं। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के इन दो के आधार पर जैन दर्शन वस्तु जगत की विवेचना प्रस्तुत करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण-व्यावहारिक एवं पारमार्थिक के भेद से दो प्रकार का है। परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच प्रकार हैं। इस प्रकार वस्तु जगत की समस्त विवेचना को प्रस्तुत करने के लिए उनके आधारभूत प्रमाणों की यह विवेचना जैन दर्शन की एक अपूर्व देन रही है। जिन प्रमाणों के आधार पर यथातथ्य रूप से सभी जगत की सब समस्याओं का स्पष्ट एवं सयुक्तिक समाधान जैन दर्शन में उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक क्रम-यूरोपीय दर्शन के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि यूरोपीय दर्शनों की उत्पत्ति एक साथ नहीं, वरन् एक दूसरे के पश्चात् हुई है। कुछ समय तक दर्शन का प्रचार रहता। फिर किसी दूसरे मत का उत्थान होता। किन्तु भारतीय दर्शनों का विकास इस प्रकार नहीं हुआ है, न ही इनकी उत्पत्ति एक ही समय में हुई है। अतः दर्शनों की उत्पत्ति का वास्तविक क्रम क्या है, इस विषय में निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी आन्विक्षिकी विद्या में सांख्य योग और लोकायत मतों का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के समय तक न्याय शास्त्र को पृथक् दर्शन के रूप में स्थान नहीं मिला था। आन्विक्षिकी के रूप में उसकी सत्ता माननी चाहिए। न्याय शास्त्र में जब वैशेषिक दर्शन को समान तंत्र माना जाने लगा, तब वह सब विद्याओं का आधार रूप न रहकर एक स्वतन्त्र दर्शन बन गया। यही कारण है कि पुराणों और स्मृतियों में न्याय और मीमांसा को पृथक् गिनाया गया। इस प्रकार पुराणकाल में न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और लोकायत- ये दर्शन पृथक् रूप से माने जाते हैं। स्मृति और पुराणों में, विद्या स्थानों में सांख्य योग और लोकायत को स्थान मिलना सम्भव नहीं था, क्योंकि

उनका आधार वेद नहीं था। किन्तु महाभारत और गीता से स्पष्ट है कि दर्शनों में सांख्य और योग का स्थान पूरी तरह जम चुका था और वे अवैदिक नहीं, किन्तु वैदिक दर्शन में शामिल कर लिए गये थे। इस प्रकार ईसा के प्रारम्भ की शताब्दियों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा अपना-अपना पृथक् दर्शन के रूप में अस्तित्व जमा चुके थे। किन्तु जैन, बौद्ध और चार्वाक इनके विरोध में ईसा पूर्व के काल से ही विद्यमान थे।

मीमांसा में कर्म और ज्ञान को लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिकों में षट् तर्क या षट् दर्शन की स्थापना हो चुकी थी। जिसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा प्राधान्य रखते थे। ये षट् दर्शनों के नाम वैदिक संस्कृति के अनुसार सामने आये थे, किन्तु इसके अतिरिक्त जहाँ वैदिक दर्शन से अतिरिक्त षट् दर्शनों की विवेचना की जाती है, वहाँ अन्य दर्शनों के नाम सामने आते हैं। “षड्दर्शन समुच्चय” ग्रन्थ के प्रणेता हरिभद्र सूरि ने षट्दर्शन में निम्न नाम बतलाये हैं-

**बौद्धनैयायिकसांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।**

**जैमिनियं च नामामि दर्शनानाममून्यहो॥**

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय- ये छः मूल दर्शन हैं।

इन छः दर्शनों में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य दर्शनों का समावेश कर लिया गया है। षड्दर्शन के रूप में दर्शनों की विवेचना ईस्वी सन् के प्रारम्भ की कई शताब्दियों के बाद हुई है।

भारतीय दर्शनों के विषय में अनेक कारण रहे हुए हैं। जब भी किसी दर्शन का प्रतिपादन होता था, तब उनके अनुयायियों का एक वर्ग स्थापित हो जाता था। वर्गगत सभी सदस्य उन दार्शनिक विचारों को अपना अंग मानकर चलते थे। यह मान्यता एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में अविच्छिन्न रूप से परम्परा के रूप में चली आती थी। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में आलोचना का क्रम भी बहुत तीव्रता के

साथ था। हर दर्शन अन्य दर्शनों का युक्ति, तर्क आदि से निरसन करता हुआ अपने दर्शन की पुष्टि करने में सतत प्रयत्नशील रहता था। इसका परिणाम यह आया कि भारतीय दार्शनिकों में अपने विचारों को स्पष्ट एवं अभ्रान्त रूप में रखने का एक व्यसन-सा पड़ गया। इससे दार्शनिक साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। इस प्रकार अनेकानेक कारणों से दर्शन एवं तत्सम्बन्धी साहित्य भारतीय साहित्य एवं दर्शन जगत में विकसित हुआ।

**प्रश्न-178 :** साधवियों के स्थान पर पुरुष वर्ग पौषध करें और अगर शाम को चार बजे से पानी की झड़ी लग जाये, तो वे अपने स्थान पर कैसे जायें ?

**उत्तर :** पौषध व्रत में अगर पुरुषों को सती वर्ग के स्थान पर रहने का प्रसंग उपस्थित हो गया हो और समय की मर्यादा आ गयी हो, तो श्रावक वर्ग का वहाँ से अन्यत्र दया पाल लेना योग्य लगता है। वर्षा के कारण छंटे लगने की सम्भावना हो, तो उसका प्रायश्चित्त लिया जा सकता है। पर सती वर्ग के स्थान पर उनका रहना कतई उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पुरुष वर्ग के रहने पर वह स्थान सती वर्ग के लिए अकल्पनीय हो जाता है। अतएव सती वर्ग की कल्प-मर्यादा को सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।

**प्रश्न-179 :** यदि शुद्ध सामायिक नहीं बन सके, तो जैसी बने वैसी करें, क्या ऐसा करने से कभी शुद्ध सामायिक हो सकती है?

**उत्तर :** प्रत्येक साधक का लक्ष्य शुद्ध सामायिक करने का होना चाहिए। शुद्ध सामायिक के भावों को प्रकट करने के लिए निरन्तर अभ्यास एवं दृढ़ विश्वास की आवश्यकता रहती है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे अभी शुद्ध सामायिक नहीं बन सकती है, तो मुझे सामायिक ही नहीं करना चाहिए। उस व्यक्ति का यह सोचना ठीक नहीं कहा जा सकता। जैसे स्कूल में विद्यार्थी जब पहली बार पहुँचता है, तब प्रथम बार में ही वह सब कुछ नहीं सीख जाता। धीरे-धीरे वह दृढ़ संकल्प बल के साथ आगे बढ़ता हुआ एक न एक दिन ग्रेज्युएट बन जाता है।



इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन की साधना के बारे में सोचना चाहिए। सामायिक आध्यात्मिक जीवन की महत्वपूर्ण साधना है। इस साधना के शुद्धतम स्वरूप को प्राप्त करना है। पर कब ? जब उसमें प्रवेश किया जाये। प्रवेश करने के बाद भी अभ्यास किया जाये। प्रवेश और अभ्यास के अभाव में वह परिपूर्ण सामायिक के स्वरूप को उजागर नहीं कर सकता। यदि कोई विद्यार्थी यह सोचले कि मुझे एम.ए. की पुस्तक पढ़नी आ जाये, फिर मैं स्कूल में प्रविष्ट होऊँ, नहीं तो नहीं। यह सोचना जैसे हास्यास्पद है, वैसे ही कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे में सामायिक आ जाये, फिर मैं सामायिक की क्रिया में लगूँ, नहीं, तो नहीं, तो यह हास्यास्पद है। साधक को शुद्ध सामायिक का अविचल लक्ष्य बनाकर अपूर्व उत्साह और तत्परता के साथ आगे बढ़ना चाहिए, जिससे एक न एक दिन अवश्यमेव शुद्ध सामायिक उसके भीतर प्रकट हो सकती है।

सामायिक करते हुए कहीं दोषों का प्रसंग आ जाये, तो उसका पश्चात्ताप कर प्रायश्चित्त लेकर सामायिक की क्रिया निरन्तर करते रहना चाहिए।

**प्रश्न-180 :** क्या सन्त अपने पहनने के वस्त्र, नाखून, बाल आदि श्रावक को तपस्या करवाकर दे सकते हैं या नहीं ?

**उत्तर :** सन्तों को अपनी नेश्राय की वस्तुएँ अथवा अपने कपड़े, नाखून, बाल आदि वस्तुएँ गृहस्थों को देना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि श्रमण की मर्यादायें भिन्न होती हैं। उन मर्यादाओं के अन्तर्गत रहते हुए उसे यह कार्य करना उचित नहीं कहलाता। इससे जिनशासन का अपवाद होता है। किसी का भला हो या न हो, पर बदनामी अवश्य हो जाती है। अतः साधु-साध्वियों को अपनी नेश्राय की वस्तुएँ गृहस्थ को नहीं देनी चाहिए। इसके साथ ही अगर कोई श्रावक भावुकतावश साधुओं के पास से अथवा उनके पात्रादि में से कोई वस्तु उठाने की चेष्टा करे, तो उसे रोकना चाहिए और थोड़ा कठोर बन करके साधुओं के पात्रादि से वस्तुएँ उठाने का त्याग करवा देना चाहिए। साधु स्वयं चलाकर यदि गृहस्थ को देता है, तो भगवान की आज्ञा का उल्लंघन

करता है। साधु गृहस्थ के यहाँ से कोई वस्तु लाये और अन्य गृहस्थों को बाँटता रहे, तो वह गृहस्थ की चोरी करता है, क्योंकि गृहस्थ साधुओं के उपयोग के लिए आहारादि का दान करता है। कदाचित् किसी परिस्थितिवश कभी अशनादिक अधिक आ गया हो, तो उसके लिए भी भगवान ने पाँचवी समिति के अन्तर्गत विधि बतलायी है। पर गृहस्थों को देने का विधान नहीं किया, क्योंकि गृहस्थों को अशनादि अथवा स्वयं नेश्रायगत वस्त्रादि देना तीर्थंकर भगवन्तों ने आदान यानि कर्म बन्ध का कारण माना है। अतः साधु को अपने नेश्राय का अशनादि अथवा वस्त्रादि गृहस्थों को नहीं देना चाहिए।

**प्रश्न-181 :** कच्चे पानी में असंख्य जीव बताये गये हैं, किन्तु धोवन पानी और गर्म पानी में जीव नहीं होते-यह कैसा माना जाये ?

**उत्तर :** प्रश्न बहुत सुंदर और व्यवहारिक है, इसे हर व्यक्ति को समझने की आवश्यकता है, अतः कुछ विस्तृत उत्तर अपेक्षित है। यह जो पानी बरस रहा है, यह सब कच्चा पानी है, तालाब में, नदी में, टैंक में, समुद्र में, कुएँ में जो पानी है, वह सब कच्चा पानी है, इस कच्चे पानी में असंख्य जीव माने गये हैं, असंख्य शब्द की आगमिक परिभाषा यह है कि जिसकी गिनती नहीं की जा सके, इस कच्चे पानी में एकेंद्रिय जीवों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीव भी पाये जाते हैं, एकेंद्रिय असंख्य जीव तो हैं ही, बेइंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रियवाले और लीलन-फूलन के जीव भी होते हैं।

कल्पना करिए- एक घड़ा कच्चे पानी से भरा हो, उसमें उपर्युक्त वर्ग के जीव पाये जाते हैं, एकेंद्रिय जीव इतने कोमल हैं कि घड़े में एक बार गिलास डालेंगे, तो कुछ जीव गिलास के स्पर्श से मर जाते हैं और सारे पानी को हिलाने, चलाने से भी अनेक जीव मर जाते हैं। पानी के उस घड़े में जितने जीव हैं, वे सब नहीं मरे। फिर भी उन्हें कष्ट तो हुआ ही, अतः उन सबकी हिंसा का पाप आपको लगा, दुबारा और तबारा पानी में गिलास डाली या जितनी बार गिलास डाली या हाथ डाला, उतना-उतना पाप हर समय लगेगा, क्योंकि कच्चे पानी में पुनः जीवोत्पत्ति

होती रहती है।

अब रहा **प्रश्न** धोवन और गर्म पानी का, इसे अचित पानी कहते हैं, कच्चे पानी के जीव कोमल हैं और उनके साथ-साथ कुछ सख्त चलते-फिरते जीव भी हैं, आप कल्पना करेंगे कि कच्चे पानी में इतने जीव हमें दिखते कहाँ है ? किन्तु पानी में अंगुली डालकर बाहर निकालेंगे, तो अंगुली गीली दिखती है, और कुछ नहीं दिखता, लेकिन अंगुली से एक टीपा (बूँद) पानी नीचे आया, तो खोज करनेवाले वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र लगाकर देखा, उनको सैकड़ों जीव नजर आये, उन्होंने उन जीवों की फोटो ली, तो देखा तो 36450 जीव एक बूँद में पाये गये, यह वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष हो गया है, यह गणना तो चलते फिरते प्राणियों की है। एकेंन्द्रिय जीव तो गिनती में ही नहीं आते, ये सभी जीव कच्चा पानी पीनेवालों के पेट में जाते हैं, पानी छानकर पीते हैं, तो कुछ बच जाते हैं- अन्यथा सभी जीव पीनेवालों के पेट में जाते हैं और कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा करते हैं, शरीर में अनेक रोग घर बना लेते हैं, कोई धार्मिक दृष्टि से नहीं समझते हैं, तो कम से कम बिना छाने पानी नहीं पीना चाहिए। जब बीमार हो जाते हैं, तो डॉक्टर कहते हैं कि पानी उबला हुआ पीना चाहिए। मैं जब नोखा में था, वहाँ पोलियों की बीमारी बहुत फैल गयी थी, तब सरकार की ओर से घोषणा हुई कि सब उबला हुआ पानी पीयें।

पानी के जीव कोमल होते हैं। किसी प्रकार का कठोर या क्षार युक्त स्पर्श होने से वे मर जाते हैं, राख से बर्तन मांजे-पानी से, छीये, वेसन, आटा, दूध आदि का स्पर्श होने पर वे नष्ट हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में वह पानी अचित हो जायेगा, गर्म पानी करने के लिए पानी को उबालते हैं, तो चलते-फिरते और दूसरे प्रकार के सभी जीव नष्ट हो जाते हैं, फलतः वह पानी भी अचित हो जायेगा; एक बार तो हिंसा हो गयी, पाप लग गया। अब उस पानी में गिलास पचास बार भी डालेंगे, तो पानी संबंधी जीवों का पाप नहीं लगेगा, क्योंकि वह जीव रहित हो जाता है, वहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि धोवन पानी अथवा गर्म पानी में जीव नहीं रहे, किन्तु उसमें हिंसा तो हो ही गयी, फिर हिंसा के

दोष से कैसे बचा जाये ?

इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि धोवन पानी प्रत्येक घर में स्वाभाविक बनता है, आप गृहस्थ हैं, आपको भोजन पकाना पड़ता है, उसमें दालें, चावल, सब्जी आदि धोने का प्रसंग आता है, बर्तन मांजकर धोये जाते हैं, यह आपके गृहस्थ जीवन की अनिवार्यता है, इससे आपको यहाँ सहज रूप में धोवन बन जाता है, विवेक इतना ही रखना पड़ता है कि उसे आप फेंके नहीं, संभालकर रख लें। इसी प्रकार गर्म पानी भी नहाने आदि के लिए बने, तो उसमें से बचे हुए का उपयोग किया जा सकता है।

यह तो हुआ हिंसा-अहिंसा की दृष्टि का विवेचन, स्वास्थ्य के लिए भी इसे समझ लें, हमारे एक संत संपतमुनि जी को दीक्षित होने के पश्चात् कुछ कम सुनायी देता था, डॉक्टर ने परामर्श दिया कि इस बिमारी को मिटाने के लिए औषधियाँ जितनी उपयुक्त नहीं होगी, उतनी चावल का धोवन काम देगा, चावल पानी से कान की बारीक नशे मजबूत हो जाती हैं।

एक शास्त्रीय विधान इस विषय में और समझ लें कि धोवन पानी आजकल के मौसम (वर्षावास) में 3 प्रहर तक निर्जीव रहता है और सर्दियों में चार प्रहर तक पुनः जीव उत्पन्न नहीं होते, गर्मी में पाँच प्रहर तक निर्जीव रहता है, उसके बाद पीयेंगे, तो फिर पाप लगेगा, क्योंकि इस अवधि के पश्चात् वह पुनः संचित हो जाता है।

**प्रश्न-182 :** नल से जब पानी गिरता है, उस समय पाप लगता है क्या ?

**उत्तर :** जिस समय नल से पानी निकल रहा है, आप उसे बाल्टी आदि किसी बर्तन में ले रहे हैं, उस समय पानी के ऊपर से गिरने से जीवों की हिंसा होती ही है, किन्तु कष्ट तो सभी जीवों को होता है। अतः आरंभ जनित हिंसा का पाप तो लगता ही है, किन्तु यह आपके गृहस्थ जीवन की अनिवार्यता है, अतः आप इस पाप से नहीं बच सकते। हाँ, यह विवेक अवश्य होना चाहिए कि नल को बिना प्रयोजन खुला रखकर अनर्थदण्ड का पाप नहीं किया जाये अर्थात् हजारों गैलन

पानी खेतों को दिया जाये वह तो आपका अर्थदण्ड-सप्रयोजन है, किन्तु एक गिलास पानी व्यर्थ में गिरा दिया, तो वह अनर्थदंड का (अधिक पाप का) कार्य हो जायेगा।

**प्रश्न-183 (अ) :** एकेन्द्रिय जीवों को मारने पर और पंचेन्द्रिय जीवों को मारने पर एक सरीखा पाप लगता है या अलग- अलग ?

**उत्तर :** अलग-अलग एकेन्द्रिय जीव की हिंसा के पाप में और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा के पाप में अन्तर है।

**प्रश्न-183 (ब) :** कितना अंतर है ?

**उत्तर :** संकल्पपूर्वक की जानेवाली पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा में अत्यन्त पाप लगता है, किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा में पंचेन्द्रिय जितना पाप नहीं लगता है- इस विषय को समझाने के लिए कुछ विस्तार में जाना होगा। हिंसा का अर्थ है- किसी प्राणी का हनन करना अर्थात् **“प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा।”** जैन दर्शन में दस प्राण बताये गये हैं- पाँच इंद्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु-इन दस में जिस प्राणी के जितने कम प्राण हैं, उसकी हिंसा में अपेक्षाकृत उतना कम पाप लगता है। एकेन्द्रिय के चार प्राण हैं और पंचेन्द्रिय के दस। अतः एकेन्द्रिय की हिंसा में अल्प पाप है और पंचेन्द्रिय की संकल्पजा हिंसा में महापाप।

इसे एक व्यवहारिक रूपक से समझें- एक व्यक्ति किसी ग्रामीण को चांटा मार देता है, तो उसे क्या सजा मिलेगी ? वह ग्रामीण दो-चार गाली दे देगा। किन्तु उसी व्यक्ति ने किसी नगरपालिका के चेअरमैन को, मिनिस्टर, चीफ मिनिस्टर अथवा प्राइम मिनिस्टर को चांटा मार दिया, तो क्या होगा ? उसकी सजा का अनुपात उसी क्रम से बढ़ता जायेगा, यद्यपि उपर्युक्त सभी व्यक्ति मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं, किन्तु उनकी योग्यता/प्रतिनिधित्व में बहुत अंतर है। इसी प्रकार जीव-जीव के समान होते हुए भी एकेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय की हिंसा में अत्यधिक अंतर है।

**प्रश्न-184 :** यदि पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए असंख्य

छोटे जीवों को मारने का प्रसंग आता है, तो उसको पाप लगा या नहीं ? एक मरते हुए मनुष्य को पानी पिलाया, तो क्या होगा ?

**उत्तर :** पंचेंद्रिय जीव की रक्षा करने के लिए किसी ने अनेक छोटे जीव मार दिये, किन्तु उसकी भावना पंचेंद्रिय जीव की रक्षा करने की थी, मारने की नहीं। लाचारीवश जो साधन उसने काम में लिये, उससे छोटे जीव मर गये। प्रथम तो कल्पना करिए कि पक्का पानी पिला दिया। रोटी खिलवा दी। तो इसमें जीव मारने का प्रसंग नहीं आया। कदाचित् किसी ने कुछ पानी पिला दिया, उसमें जीव मर गये, लेकिन पंचेंद्रिय जीव की रक्षा तो उसने की, इसमें उसे अल्प पाप लगा, किन्तु पंचेंद्रिय की रक्षा का महान लाभ मिला। क्योंकि गृहस्थ में रहनेवाले व्यक्ति की आरंभजनक हिंसा तो खुली ही है, वह हिंसा नहीं कर रहा है, तब भी उसके पाप की क्रिया उसे आ रही है। अब यही उसने उसी लगते हुए पाप में से किसी पंचेंद्रिय की रक्षा कर ली, तो पुण्य कमा लिया।

एक छोटा सा रूपक दूँ - यह बंबई शहर है, इसमें एक व्यक्ति को बंबई में शादी करनी है। शादी 6 महीने बाद होनेवाली है। लेकिन बंबई में शादी करने लायक सार्वजनिक स्थान जल्दी से नहीं मिलते हैं। इसलिए उस व्यक्ति ने देखा कि 6 महीने पहले ही आज जो मकान मिल रहा है। उसका बुकिंग कर लूँ, यह सोचकर उसने शादी लायक मकान किराये पर ले लिया। उसका किराया प्रतिमाह चार हजार या पाँच हजार जो कुछ भी था। जिस रोज बुकिंग कराया, उसी रोज से चालू हो गया।

इसी बीच उसके पड़ोसी ने आकर उससे कहा कि आपके बच्चे की शादी तो 6 माह बाद होनेवाली है, मेरी लड़की की शादी कल ही है और दूसरा मकान मिल नहीं रहा है। आप कृपा करके आप द्वारा किराये पर लिया हुआ मकान दो दिन के लिए मुझे दे दीजिए।

आपने दया करके, शुभ भावना रखकर या उसका प्रेम संपादन करने के लिए दो रोज के लिए पड़ोसी को मकान दे दिया, तो आपको इसके लिए नया किराया नहीं देना पड़ा। उसी चालू किराये में आपने पड़ोसी का प्रेम संपादित कर लिया।

अब कल्पना करिए कि दो रोज तो वे निकल गये और शेषकाल

में कोई संतगण इधर पधार गये, दूसरे मकान की स्थिति नहीं थी। संघ के मुखिया व्यक्ति, जो आपके साधर्मि थे, उन्होंने आपके पास आकर कहा कि संतगण पधार रहे हैं। उनको ठहराने के लिए तथा हमारे धर्म की आराधना के लिए 29 रात्रि के लिए आपका मकान चाहिए। आपने धर्म कार्य के लिए एक माह हेतु मकान उनको दे दिया। तो क्या आपको नया किराया लगा ? नहीं लगा और आपने धार्मिक लाभ उठा भी लिया।

अब ऐसी स्थिति आ गयी कि एक बड़े आचार्य का चातुमार्स यहाँ खुल गया। संघ के प्रमुख लोग फिर आपके पास आये और कहने लगे कि संतों का चौमासा कराना है- चार महिनों के लिए मकान दीजिए। आपने संतों के लिए मकान दे दिया, आपका किराया चालू ही था।

अब सोचिए, उसी चालू किराये में आपने पड़ोसी का प्रेम संपादित कर लिया, शेष काल में संतों को ठहराने का लाभ ले लिया और संतों का चातुमार्स करवाकर साधर्मि भाइयों को खुश भी कर दिया।

वैसे ही गृहस्थाश्रम के व्यक्तियों के लिए भगवान ने अहिंसा व्रत में बताया है- निरपराधी, निरपेक्ष चलते-फिरते प्राणी की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करना। जो व्यक्ति आपका अपराध नहीं कर रहा है, निर्दोष है, उसको नहीं मारना। वैसे ही खेती करते हैं, तो खेती करने में मरनेवाले जीव, अनजान में मर जाते हैं, तो उनकी हिंसा आपके लिए खुली है- जैसे चालू किराये का चक्का चालू है, उसी तरह से छः काय के जीवों की हिंसा चालू है। उसी चालू हिंसा में यदि आपने मरते हुए मनुष्य को पानी पिलाया, तो आपकी हिंसा तो चालू है, वही है। कच्चे पानी की हिंसा चालू थी, लेकिन उस पंचेद्रिय जीव की रक्षा करने का अतिरिक्त लाभ हो गया। नये सिरे से हिंसा नहीं हुई। अभी आप यहाँ बैठे हैं। कुछ भी काम नहीं कर रहे हैं, फिर भी आपको हिंसा लग रही है। विवेक करके त्याग करते, तब तो बात अलग थी। जितनी हिंसा खुली है, उसका पाप आपको लगता ही है। अतः पानी पिलाने में नयी हिंसा का पाप नहीं लगा।

**प्रश्न-185** : साधु सचित नहीं ले सकता-किन्तु दीक्षा देते समय सचित शिष्य को कैसे ग्रहण करते हैं ?

**उत्तर** : सचित-सचित में अंतर है। एक सचित ऐसा है, जिसके हाथ लगने से वह मर जाता है। दूसरा हाथ लगने से कष्ट पाता है। एक ऐसा है, जो हाथ लगने से आनंद का अनुभव करता है। समझ लीजिए, आप सचित हैं- आप यह समझते होंगे, प्रणाम करने पर पिताजी आपके सिर पर हाथ रखें, तो आप खुश होंगे या नाराज होंगे ? जो खुशी का कार्य है, उससे हर्ष होता है। अब रहा सवाल साधु बनने का। साधु कौन बनता है ? जो अपना कल्याण करना चाहता है, वही गुरु के पास पहुँचता है या जबर्दस्ती किसी को बुलाया जाता है ? जो दीक्षा लेना चाहता है, उसको जब तक दीक्षा नहीं दी जाती, तब तक वह मन ही मन दुःखी होता रहता है। दीक्षा देने पर प्रसन्न हो जाता है। जो संसार में रहेगा, वह अनंतानंत जीवों का संहार करेगा। दूसरी बात, जब तक उसके संरक्षकों की आज्ञा नहीं होती, तब तक उसे दीक्षित नहीं किया जाता है। संरक्षक कहते हैं कि इसे आप अपने चरणों में ग्रहण करो, तभी उसे अहिंसक सेना में भर्ती किया जाता है। वह हाथ लगाने से अत्यंत प्रमुदित होता है। अतः दीक्षा देकर सचित शिष्य को ग्रहण करना हिंसा नहीं, अहिंसा की उच्चतम आराधना है।

**प्रश्न-186** : ज्ञान बड़ा है, फिर क्यों पुरुष साधु ऊपर बैठता है और साध्वियाँ नीचे बैठती हैं, जबकि कई साध्वियाँ कई साधुओं से अधिक विदुषी होती हैं ?

**उत्तर** : ज्ञान दो तरह के हैं- एक भौतिक ज्ञान और दूसरा आध्यात्मिक ज्ञान। इस आध्यात्मिक ज्ञान के भी दो प्रकार हैं- एक चारित्र के साथ परिपक्व हुआ ज्ञान और दूसरा बिना चारित्र के केवल मस्तिष्क से/बुद्धि से होनेवाला ज्ञान। संभव है, यह ज्ञान एक विद्वान में ज्यादा हो। एक दिन के दीक्षित साधु में उतना ज्ञान नहीं होता, किन्तु एक गृहस्थ में रहनेवाला विद्वान 32 शास्त्रों का ज्ञान साधु को करवाता है, तो क्या वह साधु उस पंडित को नमस्कार करेगा अथवा अपने से



ऊपर बिठायेगा ? क्यों नहीं बिठायेगा ? जबकि ज्ञान बड़ा है ? इसलिए नहीं बिठायेगा कि वह चरित्र संपन्न नहीं है। आचरण से बड़ा-छोटा होता है। आचरण में भी विवेक हो, लेकिन आचरण ऊँचा और ज्ञान नीचा होने पर भी जिसका पद ऊँचा होता है, उस दृष्टि से उस व्यक्ति को महत्व दिया जाता है।

आप कल्पना करिए कि एक पुरुष भतीजे के पद पर है और एक पुरुष चाचा के पद पर है। चाचा के पद पर रहनेवाला 10 वर्ष का है- उसमें विवेक नहीं, ज्ञान नहीं, भतीजा 25 वर्ष का है। सामायिक, प्रतिक्रमण जानता है, आचरण की दृष्टि से भी भतीजा बड़ा है, लेकिन नमस्कार कौन करेगा ? भतीजा करेगा। क्योंकि दूसरा काका के पद पर है। पद की दृष्टि से नमस्कार होता है और उसी दृष्टि से ऊपर नीचे बैठने का प्रसंग आता है।

दूसरा उदाहरण लें- एक बहू 50 वर्ष की है और 35 वर्ष की अवस्था में उसने शील व्रत ले लिया, पति-पत्नी भाई-बहन की तरह रहते हैं। बहू ख़ूब तपस्या करती है। उसकी सासू जी 60 या 62 वर्ष की है। सासुजी काल कर गयीं। ससुरजी से रहा नहीं गया, इसलिए 16 वर्ष की लड़की के साथ शादी कर ली। वह 16 वर्ष की बहिन कुछ नहीं जानती है। मूर्ख है, क्योंकि ऐसे वृद्ध को तो वैसी ही स्त्री मिलेगी। शादी करके ससुरजी उसको घर में ले आये। अब कौन पगे लगेगी या नमस्कार करेगी ? बहू तो इतनी ज्ञानवान और चरित्र संपन्न है तथा उम्र में भी बड़ी है, किन्तु फिर भी उम्र में छोटी सास के पगे लगेगी, क्योंकि सास का पद बड़ा है।

एक पिता के पहले पुत्र का जन्म हुआ, फिर पुत्री का, तो बड़ा कौन हुआ ?

कल्पना करिए, भगवान महावीर हम सबके पिता है, उन्होंने चार तीर्थों की स्थापना की, सबसे पहले उन्होंने साधु पुत्र को जन्म दिया और बाद में साध्वी को, फिर श्रावक को और उसके बाद श्राविका को। इस दृष्टि से साधु बड़ा हुआ। इसलिए साधवियाँ चाहे ज्ञान में बड़ी हैं, चरित्र में बड़ी हैं। लेकिन भगवान ने पहले साधु को जन्म दिया।

इसलिए साधु ऊपर बैठते हैं। पद संबंधी विवेचन में एक और उदाहरण लीजिए। पाँचसौ या हजार साधु हैं, जो एक आचार्य के नेतृत्व में हैं- सभी उनकी आज्ञा में चलते हैं, वे आचार्य उन सभी संतों पर दृष्टि डालते हैं; कि कौन उनका उत्तराधिकारी आचार्य बनने योग्य है, कई पुराने साधु जो 50/60 वर्षों से संयम पालन कर रहे हैं, फिर भी उनमें से एक भी साधु उनका उत्तराधिकारी बनने योग्य आचार्य की दृष्टि में नहीं आया। एक साधु एक दिन का दीक्षित है- आचार्य ने देखा कि यह योग्य है। हालांकि ज्ञान में औरों से कम है, लेकिन ज्ञान तो सीख लेगा, आचार्य पद की क्षमता इसमें है, इसलिए उसको अपना उत्तराधिकारी बना लिया। अब आप ही बताइए, हजार साधुओं में बड़ा कौन हो गया ? यहाँ योग्यता के साथ पद का महत्व होता है।

अमेरिका की एक बहुत बड़ी महिला, जिसकी ख्याति दुनिया में है, उसने कहा है कि बहिनों को पुरुषों के समान अधिकार की बात नहीं सोचनी चाहिए। पुरुष का हमसे ज्यादा असर है। चाहे वह अर्थ की दृष्टि से समान हो सकती है, लेकिन शरीर की संरचना की दृष्टि से नारी का स्थान पुरुष से दूसरा है। यह आज की पढ़ी-लिखी महिला का कथन है।

पशु जगत में भी बंदरों का टोला होता है, वह एक नर बंदर, जो उनका लीडर होता है, उसके अंडर में रहता है और उसका अनुशासन मानता है। यह कुदरत की संरचना है। इसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से भी स्त्री को द्वितीय स्थान ही प्राप्त होता है। नारी पर बलात्कार हो सकता है, पुरुष पर नहीं, क्योंकि उनकी शरीर रचना ही दूसरी प्रकार की है। ऐसी अनेक दृष्टियों से यह सिद्ध होता है कि नारी को द्वितीय स्थान ही प्राप्त होता है।

**प्रश्न-187 :** प्रतिक्रमण का सार इच्छामि ठामि है, ऐसा क्यों ?

**उत्तर :** देखिए, यह प्रश्न कॉमन नहीं है, सबकी समझ में आये, जैसा नहीं है। लेकिन धाड़ीवालजी ने पूछा लिया, इसलिए मैं संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूँ। प्रत्येक क्षेत्र में विस्तार का संक्षिप्तिकरण होता है। दस नींबू का रस कितना होता है और सत्व कितना होता है ? तो जो

विशाल होता है, उसका संक्षिप्त रूप अवश्य होना चाहिए। प्रतिक्रमण का संक्षिप्त रूप इच्छामि ठामि में हैं, क्योंकि इस एक छोटी सी पाटी में वह पूरा सार भर दिया है, जो पूरे विस्तृत प्रतिक्रमण में आता है।

**प्रश्न-188 :** श्रावक के लिए भोजन का सिद्धांत क्या महत्व रखता है? श्रावक का भोजन कैसा होना चाहिए?

**उत्तर :** श्रावक के लिए सात्विक भोजन होना चाहिए। सात्विक भोजन का तात्पर्य यह है कि महापाप का भोजन नहीं होना चाहिए। पंचेंद्रिय की घातवाला भोजन- मांस, मछली, अंडा आदि महापाप का भोजन है। यह श्रावक के लिए कतई अभीष्ट नहीं है, लेकिन जो अल्प पाप की स्थिति का प्रसंग है, श्रावक के लिए विशेषण है... वह आल्पारंभी, अल्प परिग्रही होता है- खेती करनेवाला श्रावक अल्पारंभी होता है, श्रावक अपने जीवन निर्वाह के लिए कभी खेती भी करता है। आगम में उल्लेख है कि आनंदजी के पास 500 हलवा जमीन थीं। एक हलवा में ढाई बीघा जमीन होती है, अतः वे 1250 बीघा जमीन में खेती करते या करवाते थे। खेती या वनस्पति से संबंधित आहार श्रावक के लिए निषिद्ध नहीं है। श्रावक मांस, मछली, अंडा आदि हिंसक एवं तामसिकता से रहित सात्विक आहार ग्रहण कर सकता है, इसमें यह विवेक भी आवश्यक है कि श्रावक का भोजन यथाशक्ति नैतिकता से उपार्जित हो।

**प्रश्न-189 :** आज की दुनियाँ चाँद या चंद्रमा से भी आगे जा रही है, तो आपने माइक पर बोलना क्यों वर्जित किया- आप माइक का प्रयोग क्यों नहीं करते ?

**उत्तर :** माइक के बारे में मैंने व्याख्यान में समझा दिया था। भाई कोठारीजी ने पुनः वही प्रश्न उठाया है- मैं बहुत खुश हूँ, इसलिए कि युवकों में चेतना आयी है।

भगवान ने दो तरह के मार्ग बताये- एक साधु मार्ग और दूसरा गृहस्थ मार्ग। गृहस्थ में रहनेवालों को पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं है। उनके लिए निरपराध निरपेक्ष चलते हुए जीवों को संकल्पपूर्वक नहीं मारना, नहीं मरवाना, हिंसा का इतना ही त्याग है।

लेकिन हमारे साधु जीवन के लिए भगवान ने निर्देश दिया है कि

तुमको छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जीव की हिंसा करनी नहीं, करवानी नहीं, हिंसा करनेवालों को अच्छा समझना नहीं, मन से, वचन से और काया से। हमारे लिए कोई हिंसा खुली नहीं है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा जीव हमारे प्राण तुल्य है, आपेक्षिक दृष्टि से वह हमारे परिवार का सदस्य है, चाहे वह पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल या वनस्पति का जीव हो। परिवार का सदस्य छोटा हो या बड़ा - उनमें भेद की बात नहीं होती।

माइक बिजली से चलता है और बिजली में अन्निकायिक जीव होते हैं, उनका हनन हमारे लिए वर्जित है। केवल उपदेश सुनाना ही साधु के जीवन का लक्ष्य नहीं है, उपदेश सुनानेवाले बहुत से लोग मिलेंगे, आपमें जो विद्वान हैं, वे भी अच्छा भाषण दे सकते हैं, लेकिन समस्त प्राणियों को बचाकर चलने की साधना आपकी नहीं हो सकती। बिना माइक के साधु थोड़े ही लोगों को उपदेश सुनायेगा, लेकिन जितनों को सुनायेगा, वह महत्वपूर्ण होगा।

मेरा रायपुर में चातुर्मास था, उस समय तोलारामजी भूरा, जो दीपचंदजी भूरा के बड़े भाई थे- दर्शनार्थ रेलगाड़ी में बैठकर आ रहे थे। रास्ते में एक विदेशी-रसियन सज्जन ने उनसे पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? तो उन्होंने कहा कि महात्माजी के दर्शनार्थ रायपुर जा रहे हैं। उसने फिर पूछा कि आपके साधु कैसे होते हैं ? उन्होंने साधुओं के बारे में विस्तार से बताया। उस विदेशी भाई ने कहा कि क्या कोई मनुष्य इस तरह का जीवन बिताता हुआ जिंदा रह सकता है ? तोलारामजी भूरा ने कहा कि जिंदा है, तभी तो हम उनके दर्शन करने जा रहे हैं।

यदि ऐसा कोई भी व्यक्ति 24 घंटे ऐसे साधुओं के पास आ कर रह जाये, साधु चाहे मौन रहे, लेकिन साधु के पास रहने से उस पर जो भी प्रभाव पड़ेगा, वह उपदेश से नहीं।

मान लीजिए, आपने उपवास पचरख लिया है और साधुर्मी वात्सल्य का भोजन है, जिसमें करीब दस हजार लोग जीमने के लिए आये हैं। किसी कारणवश उनको शंका हो गयी कि इस भोजन सामग्री में पॉइजन-जहर है। इसलिए लोग कहने लगे कि हम नहीं जीमेंगे।

जीमानेवाला कहता है कि आप जीमिये। अंत में वे सहमत हो जाते हैं, किन्तु उनकी एक शर्त है, वह यह कि धीरज भाई कोठारी भोजन करें, तो हम भी भोजन कर लेंगे। वह नहीं जीमते हैं, तो हम सब भूखे जायेंगे, तो क्या आप जीम लेंगे और दस हजार लोगों को जीमा देंगे ? हाँ, जीम लूँगा।

आचार्य श्री : उस समय कोई आपसे पूछे कि आपके तो उपवास है- फिर आप भोजन कैसे कर रहे ? तो आप नैतिकता के नाते कहेंगे कि उपवास तो था, लेकिन उपकार के लिए तोड़ दिया। गृहस्थ का उपवास वृक्ष के पत्ते के तुल्य उत्तरगुण है, लेकिन महाव्रत मूल के तुल्य है। आपने पत्ते को तोड़ दिया, वह फिर आ सकता है। किन्तु किसी ने मूल महाव्रत को तोड़ दिया और यदि कोई उससे पूछे कि आप महाव्रत धारी महात्मा है ? तो वह क्या उत्तर देगा ? उसकी नैतिकता का तकाजा क्या है? क्या वह अपने आपको पंच महाव्रतधारी कह सकेगा ? यदि वह कहता है कि मैं पंच महाव्रत धारी हूँ, तो नैतिकता का अनुपालन आपने अधिक किया या उसने ? इस विषय में आप स्वयं निर्णय दें। यदि माइक आदि साधनों के प्रयोग से हमने अपने मूल महाव्रतों को खंडित कर दिया, तो हम साधु कहलायेंगे ? या प्रचारक ? यदि हमें साधु कहलाना है, तो ईमानदारी से महाव्रतों का पालन करना होगा। अब आप ही निर्णय दीजिए कि हमें प्रचार हेतु विद्युत के साधनों का उपयोग करना चाहिए या नहीं? धीरज- **“नहीं, अब मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ।”**

तभी कोई दूसरा व्यक्ति बोला - आप प्रायश्चित ले सकते हैं? (बीच में ही- यह कैसा प्रायश्चित ?)

**आचार्य श्री :** इन भाई का प्रश्न है कि माइक पर बोलकर प्रायश्चित ले ले, यदि हम अपने मूल को तोड़कर प्रायश्चित लेंगे, तो उसका प्रायश्चित होगा, फिर से साधु बनें, जैसे वृक्ष के मूल से उखड़ जाने पर पुनः नया वृक्ष लगाना पड़ता है।

ये बंधु कह रहे हैं कि परोपकार के लिए व्रत तोड़ देना चाहिए, प्रायश्चित ले लेना चाहिए, किन्तु यह स्मरण रहे कि परोपकार के लिए

व्रत को तोड़ा जाता है। कदाचित् परोपकार के लिए व्रत तोड़ दिया गया, तो हमें यही कहना पड़ेगा कि अहिंसा व्रत नहीं है। जैसे किसी के पास एक लाख रुपये थे, उसने उनका परोपकार में दान कर दिया। अब वह अपने को लखपति नहीं कहेगा। कल मैंने सरकारी मूल्य सूचि तोड़ने का उदाहरण दिया था। इस तरह से मूल्य सूचि तोड़ने पर सरकार भी माफ नहीं करती, तो मूल व्रत तोड़ने पर क्या भगवान महावीर के द्वारा निर्दिष्ट साधना पद्धति की मूल्य सूचि का अवमूल्यन करने का हमें कोई अधिकार है? कोई व्यक्ति मूल्य सूचि को तोड़कर उसकी आय को परोपकार में भी क्यों न लगाता हो, सरकार उसे क्षमा नहीं करेगी।

ठीक यही स्थिति हमारी साधना-प्रचार पद्धति की है। यदि मुनि जीवन का उद्देश्य प्रचार ही है, परोपकार की दृष्टि में मर्यादाओं के भंग की अनुमति होती, तो प्रभु महावीर के सैकड़ों शिष्य वैक्रियलब्धि के धारक थे, किन्तु प्रभु उनसे कहकर चमत्कार दिखावाकर प्रचार करवा सकते थे। किन्तु प्रभु ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वैक्रियलब्धिक का प्रयोग विद्युत जैसा हिंसक नहीं होते हुए भी मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है।

जब तक आप लोगों को मुनि मर्यादाओं का ज्ञान नहीं है, तब तक आप कह सकते हैं कि किसी भी साधन का उपयोग करके प्रचार-प्रसार करना चाहिए, किन्तु ज्योंही आपको साधु चर्या के नियमों का ज्ञान होगा, आप खुद ही कहेंगे- **“महाराज! अपने महाव्रतों में ब्लैक करके उपदेश दे रहे हैं।”** ऐसी स्थिति में हमारे कथन का आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इसी संदर्भ में एक बात और समझ लें- साधक के व्यक्तित्व का जो प्रभाव होता है, वह उसके वक्तृत्व का नहीं। यदि हमारी मर्यादाएँ स्थिर हैं, तो उनका प्रभाव बिना प्रवचन के भी होगा, किन्तु मर्यादाओं को भंगकर उपदेश देने पर वह उपदेश स्थाई प्रभाव नहीं डाल सकेगा।

**प्रश्न-190 :** रतलाम में इतने लोग इकट्ठे हुए थे, यदि किसी

का बच्चा गुम जाता और माइक पर सूचना नहीं देते, तो क्या हाल होता ?

**उत्तर :** शायद आपको मालूम होगा कि वहाँ पर इतने लोग इकट्ठे हुए थे, उनमें से किसी का बच्चा गुम हुआ था क्या? कदाचित् ऐसा हो जाये, तो आप गृहस्थ हैं, खुले हैं। सड़क पर कुछ भी करें, हमें क्या आपत्ति है, जिस पांडाल में कार्यक्रम हो, वहाँ कुछ नहीं होना चाहिए।

**प्रश्न-191 :** मानव समाज में रहन, सहन आदि में जैसा परिवर्तन होता है, उसी के अनुरूप धार्मिक नियमों में परिवर्तन करने में क्या आपत्ति है ?

**उत्तर :** आपने इतिहास पढ़ा होगा- कितने वर्ष पुराना इतिहास मिलता है ? हजारों वर्ष पुराना इतिहास मिलता है। उस समय मनुष्य की स्थिति क्या थी ? आँखें कहाँ थी ? हृदय कहाँ था ? जैसे जो शरीर के मूल अंग है, उनमें परिवर्तन कभी नहीं होता, उसी तरह जैसा कि मैं अभी समझा चुका हूँ, सत्य तीन काल में भी सत्य ही रहेगा, उसमें परिवर्तन नहीं होगा। अहिंसा अहिंसा ही रहेगी, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। मूल महाव्रतों में परिवर्तन करने पर साधु -साधु न रहकर प्रचारक बन जायेगा। हमारे लिए जो नियम बने हुए हैं, उन्हें हमने नहीं बनाया, वे तीर्थंकरों के बनाये हुए हैं। उन मूल नियमों में इतने काल में भी परिवर्तन नहीं आया। यदि हम परिवर्तन करते हैं, तो तीर्थंकरों के अपराधी बनते हैं।

**प्रश्न-192 :** भवी और अभवी को ज्ञान और समकित आती है क्या ?

**उत्तर :** अभवी अज्ञानी और मिथ्यात्वी है, उसे तीन काल में भी सम्यक्त्व नहीं आ सकती है। निकट भवी को ज्ञान और समकित आता है।

**प्रश्न-193 :** चातुर्मास काल में जो लोग दर्शनार्थ इधर-उधर जाते हैं, तो क्या वे ज्ञान प्राप्त करने जाते हैं ? वहाँ जानेवालों के द्वारा होनेवाली हिंसा का पाप किसको लगेगा ? क्या संतों को उस हिंसा का पाप लगेगा ?

**उत्तर :** प्रश्न कुछ मौलिक एवं सामयिक है, अतः कुछ विस्तृत उत्तर दे रहा हूँ। जसलोक अस्पताल, बंबई में बहुत बड़ा अस्पताल माना जाता है। वहाँ पर इलाज कराने के लिए हिंदुस्तान के कोने-कोने से रेल द्वारा या यातायात के अन्य साधनों द्वारा लोग आते रहते हैं। उनके आने-जाने में जो जीव हिंसा लगती है, क्या वह हिंसा वहाँ के डॉक्टरों को लगती है ? नहीं, उन्हें ही लगती है, जो रोग-निवृत्ति के लिए आते हैं। वैसे ही सभी सांसारिक प्राणियों को आरंभजा हिंसा तब तक लगती रहती है, जब तक वे उसका संकल्पपूर्वक प्रत्याख्यान नहीं कर लेते। अतः आगमिक दृष्टि से हिंसा का दोष तो लग ही रहा था।

आपकी हिंसा जन्म से ही चालू है, चाहे दर्शन करने जायें या न जायें। यदि साधु के दर्शन के लिए जाते हैं, तो दर्शन करने से लाभ ही होता है। जैसा कि भगवती सूत्र में कहा है-

**तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया, तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं नाम गोयस्स विसवणयाए, किमंग पुण अभिगमणं- वंदणं-नमंसणं- पडिपुच्छण-पञ्जुवासणयाए जावगहणयाए?**

**भावार्थ :** हे देवानुप्रियों! तथारूप के स्थविर भगवंतों के नाम गोत्र के श्रवण से भी महाफल होता है, तो उनके सामने जाना, वंदना करना, नमस्कार करना, कुशल समाचार पूछना और उनकी सेवा करना यावत् उनसे प्रश्न पूछकर अर्थों को ग्रहण करना इत्यादि बातों के फल तो कहना ही क्या ? इस प्रकार के महाफल के प्रसंग को ध्यान में रखकर अनेकों भव्य प्राणी पंचमहाव्रत धारी संत-महात्माओं के नाम-गोत्र सुनकर प्रमुदित होते हैं एवं यथावसर उनके दर्शन आदि का लाभ प्राप्तकर उनके मंगल वचन श्रवण करते हैं।

वर्तमान के तर्क प्रधान युग में कुछ व्यक्ति यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि संतों के दर्शन को एवं उनकी मंगलमय वाणी को श्रवण करने के निमित्त नहीं जाना चाहिए, क्योंकि आने-जाने की क्रिया में आश्रव होना स्वाभाविक है। अतः संतों के दर्शन आदि के निमित्त से संत अथवा सेवा में जाने से महाफल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?



उक्त तर्क जिज्ञासा की दृष्टि से योग्य है, पर इस प्रकार की धारणा बना लेना भयंकर भूल है तथा ऐसी प्ररूपणा करना तो उत्सूत्र प्ररूपणा करना है, क्योंकि ऊपर जो भगवती सूत्र का पाठ दिया गया है उसमें स्पष्ट निर्देश है कि- “**अभिगमण-वंदणं.....**” अर्थात् उन संत महापुरुषों के सम्मुख चले, वंदन नमस्कार करें आदि श्रावक का कर्तव्य बतलाया गया है। इस प्रकार आगमों में स्थान-स्थान पर श्रमण भगवंतों के अभिगमन-दर्शनार्थ जाने के उदाहरण चरितानुयोग में विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं।

भगवान महावीर अथवा उनके पट्टधर प्रथम आचार्य श्री सुधर्मा स्वामी आदि का जब पदार्पण होता, तब नागरिक जन सामूहिक रूप से उनके दर्शनार्थ उपस्थित होते थे। जहाँ सम्राटों का संत सेवा में पहुँचने का उल्लेख है, वहाँ बतलाया गया है कि वे चतुरंगिणी सेना सहित दर्शनार्थ पहुँचते थे, चतुरंगिणी सेना (हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल) जब चलती थी, तब उससे हिंसा होना स्वाभाविक था। ज्ञाता-धर्म कथांग सूत्र में भगवान ने स्वयं कहा कि....

**सेणिए राया भिंभिसारे ण्हाए सव्वालंकार विभूसिए हत्थि खंध वरगये सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिञ्जमाणेणं सेयवरचामरे हयगय महया भडचडगरकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धि संपरिवुडे, मम पाय वंदए हव्वमागच्छइ, तएणं से दददुरे सेणियस्स रण्णो एणेणं आसकिसोरेणं वामपाएणं अक्कंते समाणे अंतनिग्घाइए कए यावि होत्था.....तएणं से दददुरे कालमासे कालं किच्चा जाव सोहम्ममे कप्पे....।”**

अर्थात् भंभिसार इस अपर नामवाला श्रेणिक राजा स्नान आदि से निवृत्त होकर सभी अलंकारों (आभूषणों) से विभूषित हो, श्रेष्ठ हस्ती पर बैठकर, कोरंट नामक पुष्पों की माला से शोभित, छत्र की धारण कर भृत्यों द्वारा श्रेष्ठ श्वेत चामर ढोलाये जाता हुआ, हाथी, घोड़े, रथ, पैदल रूप चतुरंगिणी सेना से घिरा हुआ मेरी चरणवंदना के लिए शीघ्र आ रहा था। इधर मेढ़क अपनी तीव्र गति से चल कर आ रहा था। वह

श्रेणिक राजा के एक किशोर अश्व के वाम पैर से आक्रांत हो गया, जिससे उसकी आंतें टूट गयीं....यावत् वह मेढ़क काल करके सौधर्म कल्प विमान में....।”

इस प्रकार भगवान स्वयं जानते थे कि गमनागमन से हिंसा होती है और उसका उल्लेख भी किया। किन्तु दर्शनार्थ उपस्थित होनेवाले को यह नहीं कहा कि संत-दर्शन के निमित्त गमनागमन की क्रिया नहीं करनी चाहिए तथा संतों के दर्शन करने जाने से, आने जाने की क्रिया से हिंसा होगी, ऐसा जानते हुए भी राजा-महाराजा चतुरंगिणी सेना के साथ तथा अन्य गणमान्य सज्जन स्व-अनुरूप साजसज्जा के साथ संत दर्शन के निमित्त चल कर पहुँचते थे।

इसी प्रकार चक्रवर्ती भरत, वासुदेव श्री कृष्ण एवं दशार्णभद्र, कोणिक, जितशत्रु, शतानीक, उदायन आदि बड़े-बड़े सम्राटों का चतुरंगिणी सेना सहित तीर्थकरों की सेवा में पहुँचने का उल्लेख मिलता है। उपासकदशांग सूत्र में भी आनंद आदि श्रावकों का तथा भगवती सूत्र में शंखजी आदि श्रावकों का स्व-अनुरूप साज-सज्जा के साथ प्रभु महावीर के दर्शन करने एवं पर्युपासना करने का वर्णन मिलता है।

इतना ही नहीं, देवगण असंख्य योजनों से उत्तर वैक्रिय करके भगवान की सेवा में पहुँचते थे। उनके गमना-गमन से हिंसा तो होती ही थी तथा वे भगवान के दर्शन एवं पर्युपासना करने के निमित्त से ही उपस्थित होते थे। ऐसा आगम में केवल एक-दो जगह ही नहीं, अनेकों स्थलों पर उल्लेख मिलता है। संतों के दर्शन आदि के निमित्त संतों की सेवा में नहीं पहुँचना, ऐसा मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त संत किसी से नहीं कहते हैं कि आप हमारे दर्शन हेतु आओ। आप अपनी खुशी से आते हैं। आपके आने से संतों को पाप क्यों लगेगा? जैसे कि जसलोक अस्पताल में आनेवालों का पाप डॉक्टरों को नहीं लगता। जैसे शारीरिक रोगी अस्पताल पहुँचते हैं, वैसे ही मानसिक रोगी और आत्मिक रोगी जानते हैं कि अमुक स्थान पर जायेंगे, तो हमको शांति मिलेगी। वे अपनी इच्छा से आत्मिक रोग मिटाने के लिए आते हैं। अतः साधु को पाप नहीं लगेगा। इसी प्रकार

दर्शनार्थ आनेवालों को भी आरंभजा हिंसा के अलावा धर्म लाभ ही होगा।

**प्रश्न-194 :** समकित लेने पर एक ही गुरु को आराध्य मानते हैं, तो क्या दूसरे संप्रदाय के गुरुओं को नहीं मानना चाहिए ?

**उत्तर :** प्रश्न अध्यात्म से संबंधित है, इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से समझना होगा। भगवान महावीर ने हमारे समक्ष प्रत्येक तत्व की परिभाषा रख दी है। हम हर तत्व को उस कसौटी पर कसकर देख सकते हैं, समकित का लक्षण बताते हुए कहा है-

**अरिहन्तो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो। जिण पण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं।**

अर्थात् मेरे देव अरिहंत हैं। सुसाधु निर्ग्रथ मेरे गुरु हैं। भगवान ने यह परिभाषा दे रखी है। कोई साधु एकाकी रहता है, तो क्या करता है, क्या नहीं करता है, कुछ ज्ञात नहीं होता है। दो साधु भी हैं, आचार्य के अनुशासन में नहीं हैं, तो पता नहीं वे क्या करेंगे ?

सुनने में आया कि मद्रास की तरफ दो साधु आये। उनके जीवन के बारे में किसी को पता नहीं था, यह भी पता नहीं था कि वे किसके शिष्य हैं। धीरे-धीरे पैसा बटोरने लगे। जब श्रावकों को यह शंका हुई कि ये साधु क्या कर रहे हैं, तो लोगों ने उन पर नजर रखना आरंभ किया। जब उन्होंने देखा कि पोल खुल जायेगी, तो पैसा लेकर दोनों वहाँ से निकल गये और रेल में बैठकर कलकत्ता पहुँच गये। अतः आचार्य का नेतृत्व आवश्यक माना गया है।

साधु संयम की अच्छी पालना करें। लेकिन अच्छे आचार्य के नेतृत्व में विधि सहित नियमों का पालन करें, वे ही वंदनीय, पूजनीय हैं। आप अपने पास कसौटी रखिए, जो कि शास्त्रीय है। इस कसौटी पर जो भी खरा उतरे, उसे वंदन करने से समकित में दोष नहीं लग सकता है।

**प्रश्न-195 :** यह नियम क्यों नहीं बना लिया जाये कि धर्मस्थान में सभी मुँहपत्ति बांधकर आयें ?

**उत्तर :** यदि यह चिंतन वैज्ञानिक तरीके से समझ लें, तो

जैनधर्म की साधना पद्धति के चार चाँद लग जायें। मैं कल सामायिक की व्याख्या करते समय बोल गया था कि भगवान के समवसरण में लोग उत्तरासन लगाकर जाते थे, वहाँ जीवयुक्त पदार्थ नहीं ला सकते थे, फूलों की माला और इलायची बाहर रखी जाती थी। धर्मस्थान में आने से पहले विवेक रखना आवश्यक है। इस रूप में नियम तो उत्तरासन का बना हुआ ही है। आप लोग पालन नहीं करें, तो यह दोष आपका है।

**प्रश्न-196 :** आज के जमाने में जैन धर्म लुप्त क्यों हो रहा है और जैन धर्म की जानकारी लोगों को क्यों नहीं है ? कई लोग अपने आपको जैन कहलाने में भी संकोच करते हैं, ऐसा क्यों है ?

**उत्तर :** इसके कारण की खोज में जाने के लिए थोड़ा गहराई में पहुँचना पड़ेगा, क्या जन्म से ही बच्चा धर्म, परिवार और समाज को जानता है ? वह नहीं समझता है। उसको समझानेवाले उसके माता-पिता हैं। बचपन में उसे जैसे संस्कार मिलते हैं, वे अमिट हो जाते हैं, तो सबसे पहली कमजोरी है माता-पिता की। माता-पिता ही चरित्र का निर्माण करते हैं, अतः उनका कर्तव्य है कि वे सुंदर जीवन निर्माण हो, ऐसी शिक्षा दें। जब बच्चा बड़ा होता है, तो उसको नयी चीज समझने की जिज्ञासा होती है। धर्मस्थान पर पिता के साथ जाता है, तो संतों को देखकर पूछता है कि ये कौन हैं ? यदि माता उसकी जिज्ञासा का युक्तियुक्त समाधान देती है, तो उसका उत्साह बढ़ता है। यदि उसको झिड़कते हैं, तो उत्साह नहीं बढ़ेगा। कभी माता-पिता उसे नास्तिक कह देते हैं, तो वह धर्मस्थान पर नहीं जाता। यदि धर्म स्थान पर ले जाते हैं, वह कुछ पूछता है, तो उससे कहें कि मुझे जितना ज्ञान था, उतना बता दिया। आगे का समाधान संत करेंगे। वहाँ समाधान नहीं होता है, तो दूसरे स्थान पर ले जायें। इस प्रकार धार्मिक संस्कारों का क्रम चालू रहे। आज के युवक बारीक बातें समझते हैं। इसलिए जैन धर्म की बारीक बातें समझाने का सुंदर अवसर है। युवक जितना समझेंगे उतना पकड़ेंगे।

कुछ लोग धर्म को परलोक की चीज बता देते हैं और युवक

कहते हैं कि हम तो वर्तमान की बात चाहते हैं।

ईसाई लोग रविवार को सभी बच्चों को गिरजाघरों में ले जाते हैं। मुसलमान लोग छोटे बच्चों को कुरानशरीफ से धार्मिक संस्कार देते हैं। हिंदु समाज और हमारी समाज प्रायः बच्चों को पैसों की मशीन बना देना चाहते हैं। वे रोजी-रोटी की जितनी आवश्यकता समझते हैं, उतनी धर्म की नहीं समझते। यही प्रमुख कारण है कि धर्म जितनी चाहिए, उतनी प्रगति नहीं कर पा रहा है। इसके अतिरिक्त आज आपके समाज में स्वाध्याय की बहुत कमी है और इसी कारण जैन तत्वज्ञान में आपका प्रवेश नहीं हो पाता। इस ज्ञान के अभाव में आपके आचरण गलत हो जाते हैं, तो आपको अपने को जैन कहलाने में शर्म आयेगी ही।

**प्रश्न-197 :** जैन धर्मावलंबी इतने डरपोक क्यों हैं ? जैन कहलाना ठीक क्यों नहीं समझते ?

**उत्तर :** इसका भी मुख्य कारण जैन तत्व का अभाव ही है। ज्ञान हो जायेगा, तो डरपोकपना भाग जायेगा। जैन धर्म कायरों का नहीं, वीरों का धर्म है। यह वीरता ही नहीं, महावीरता सिखाता है।

**प्रश्न-198 :** आजकल के युवक तिरुपति बालाजी के वहाँ जाते हैं, जहाँ पाँच घंटों पहले दर्शन नहीं होते, पाँच घंटे लाइन लगाने पर दर्शन होंगे, तो भी करेंगे, साईबाबा के वहाँ जायेंगे, तो वहाँ उनकी मनोकामना पूरी होती है। वे कहते हैं कि तिरुपति और साईबाबा के वहाँ जाकर आया- वहाँ मनोकामना पूरी हुई, लोग कैसे मानते हैं कि मनोकामना पूरी हुई ?

**उत्तर :** वास्तविक तिरुपति बालाजी क्या हैं, यह सामान्य जनमानस नहीं समझता है। तिरुपति का मूल स्वरूप आज की मान्यता से सर्वथा भिन्न है, वे ऐसी किन्हीं मनौतियों को पूरी नहीं करते, आज के मनुष्यों की मनोकामना यह है कि धनवान बन जाऊँ, यदि तिरुपति बालाजी के वहाँ और साईबाबा के वहाँ जाने से मनोकामना पूरी होती, तो सबके सब धनवान हो जाते, लेकिन एक माहौल हो जाता है और

मनुष्य की ऐसी कल्पना बन जाती है।

आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहब फरमाते थे कि एक किसान को बुरखार हो गया, वह भैरूजी हनुमानजी के वहाँ गया मनोतियों मनायी, लेकिन उसका बुरखार नहीं उतरा। 26 दिन बीत गये, फिर उसका ध्यान गया कि मेरा बैल सयाना है, उसके पैर से निकलूँ, तो बुरखार चला जायेगा, बैल के पैर के नीचे से निकला, उसका बुरखार उतर गया, वैसे उसे 27 दिन का टाइफाइड था। औषधि चल रही थी, वह एक दिन बाद वैसे ही ठीक होनेवाला था, किन्तु उस भोले बंधु ने यह प्रचार कर दिया कि मेरे बैल के नीचे से निकलने से बुरखार उतर जाता है और हजारों व्यक्ति बैल के नीचे से निकलने लगे, यह अंधविश्वास यहीं तक सीमित नहीं रहा, बैल जब दिन-भर परेशान होने लगा, तो उसे एक पिंजरे में बंद कर दिया और लोग आ-आकर उस पिंजरे के चक्कर लगा जाते और बैल को नमस्कार कर जाते।

इसी तरह रायपुर के पास गुडियारी गाँव में मुझे एक भाई ने बताया कि उड़ीसा में एक अंगुली बाबा था। उसके पास जाने पर भी कुछ लोग रोग मुक्त हो गये, हजारों की भीड़ लगने लगी, व्यवस्था के अभाव में लोग और अधिक बीमार हो-होकर आने लगे, अंत में सरकार को प्रतिबंध लगाना पड़ा और उस बाबा को बंदी बना लिया गया।

दरअसल में ज्ञान की कमी के कारण ही लोग इधर-उधर की बातें सोचते हैं। ज्ञान की मात्रा आ जाये, तो फिर घर बैठे गंगा है, यदि सही ज्ञान नहीं है, तो मनोकामना पूरी नहीं होती।

**प्रश्न-199 :** जैन धर्म की एकता हेतु, सभी संप्रदायों द्वारा एक झंडे के तले आकर संगठन हेतु बहुत जोर लगाये जा रहे हैं, भाषणबाजी हो रही है, लेकिन सफलता नहीं मिल पा रही है, क्यों ?

**उत्तर :** प्रश्न सामयिक एवं मौलिक है, प्रत्येक व्यक्ति की यह सहज भावना रहती है कि हमारी समाज सुसंगठित होकर चले और यह सोचना उचित भी है, किन्तु सुसंगठन की आधार भूमि क्या है, यह एक विचारणीय विषय है। आज संगठन में जो सफलताएँ नहीं मिल रही

है, इसका मूल कारण भी आधार भूमि का असंतुलन है। बिना किसी ठोस भूमिका के ऊपर-ऊपर के प्रयास सफल नहीं हो सकते हैं। असफलता का दूसरा कारण है -संगठनों की कथनी-करनी में अंतर। यदि समाज में धर्म और संप्रदाय में भावात्मक एकता लानी है, तो सभी लोग मन से, वचन से और काया से एक रूप हो जायें, तो सफलता मिलने में देर नहीं लगती।

**प्रश्न-200 :** जैन साधु भी श्वेत वस्त्र पहनते हैं और क्रिश्चियन पादरी, जिनको “फादर” कहते हैं, वे भी श्वेत वस्त्र पहनते हैं, तो हम सब को मिलकर क्यों नहीं चर्च में जाना चाहिए ?

**उत्तर :** इस छोटे से बच्चे ने प्रश्न करने का साहस किया, यह प्रशंसनीय है। मैं उस बच्चे से कहना चाहूँगा कि यदि श्वेत वस्त्रों से ही धर्म स्थान का संबंध हो, तो हम वहाँ जायें, इसके बजाये यह भी तो हो सकता है कि सभी पादरी यहीं क्यों नहीं आ जायें ? वास्तव में धर्म सिद्धान्तों में है, पोषाकों में नहीं, कल्पना करें - दो विद्यालयों का यूनिफार्म समान हो, तो क्या एक-दूसरे के विद्यार्थियों को एक-दूसरे विद्यालय में चले जाना चाहिए ? वास्तव में जहाँ पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह संपन्न जीवन का स्वरूप है, वहीं जीवन की पोषाक है, आत्मा की पोषाक है, वह पोषाक जो सजा लेता है और वह जिस स्थान पर मिलती है, वह स्थान सबके लिए उपादेय होता है।

**प्रश्न-201 :** हमारे चहेते अगर हमसे दुर्बुद्धि से चलें, तो हमें क्या करना चाहिए ?

**उत्तर :** प्रश्न आप सभी के ध्यान में आ गया होगा ? मैं कुछ स्पष्ट कर दूँ। आपका प्रश्न है कि हमको चाहते रहे हैं, फिर भी उनमें दुर्बुद्धि चलती है, तो क्या करना चाहिए ? ऐसे व्यक्तियों की चाह ऊपरी चाह होती है। वे आपको ऊपर से चाहते हैं, अंदर से नहीं। इसीलिए दुर्बुद्धि से चल रहे हैं। सच्चे मन से चाहेंगे, तो आपके साथ दुर्बुद्धि का व्यवहार नहीं करेंगे। तथापि आप उनके साथ समभाव से व्यवहार करेंगे

तथा दुर्बुद्धि का प्रतिकार शांति के सहारे सभ्य तरीके से करेंगे, तो एक-न-एक दिन अच्छा रिजल्ट आयगा। उनकी दुर्बुद्धि सद्बुद्धि में परिवर्तित हो जायेगी। आपकी सद्भावना का प्रभाव सामनेवाले व्यक्ति पर अवश्य हीगा। उसे एक-न एक दिन अवश्य बदलना पड़ेगा।

**प्रश्न-202 :** पंडाल में बैठे व्यक्तियों के सामायिक है, अचानक आँधी, तूफान व बारिस आ जाये, सभी लोग भीग रहे हों व रहने के लिए कोई आसपास स्थान न हो, तो उन व्यक्तियों द्वारा क्या किया जायेगा ?

**उत्तर :** प्रथम तो ऐसे स्थान पर कोई सामायिक नहीं करेगा, जहाँ इस प्रकार की अव्यवस्था की संभावना है तथा ऐसा प्रायः नहीं होता है कि आसपास में कोई स्थान न मिले, सामायिक करनेवाला पहले ही विवेक रखेगा, पहले व्यवस्था देखकर चलेगा। कदाचित् ऐसी स्थिति उपस्थित हो जाये, तो सामायिक की समाप्ति के पश्चात् आलोचना करके प्रायश्चित लेना चाहिए।

**प्रश्न-203 :** किन्हीं दो राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्षों की गलत नीति के कारण उनके बीच युद्ध होता है, लेकिन युद्ध की हानि उक्त राष्ट्रों के नागरिकों को भी, जिनका की कोई दोष नहीं है, उठानी पड़ती है, इसे हम किसके कर्मों का उदय समझें ? क्या सभी नागरिकों ने, जिन्हे हानि पहुँचती है, पूर्व जन्म में एक साथ ही समान कर्म बाँधे थे ?

**उत्तर :** प्रश्न युगीन संदर्भों से अनुबंधित होते हुए भी अतीव मौलिक है, साथ ही यह कर्म सिद्धांत की व्यवस्था को भी अपने में समेटे हुए है, राष्ट्राध्यक्ष कोई अपने मन से नहीं बनते, आज की जनतांत्रिक पद्धति में आम व्यक्ति को राष्ट्राध्यक्ष चुनने का अधिकार है, ऐसी स्थिति में राष्ट्राध्यक्ष पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसके निर्णयों का प्रभाव आम प्रजा पर होना स्वाभाविक है, कर्म सिद्धांत ने इस व्यवस्था को सामुदायिक कर्म की संज्ञा दी है। जैसे पाँच हजार व्यक्ति एक साथ कोई चलचित्र देख रहे हैं, उसके दृश्यों के अनुसार प्रायः सभी में एक समान भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, समान कर्मों का बंध हो जाता है, जिसका एक साथ उदय हो सकता है, मूलतः



राष्ट्राध्यक्ष कोई स्वतंत्र इकाई नहीं है। वह सामान्य जनता के प्रतिनिधित्व अधिकार से अनुबंधित है।

**प्रश्न-204 :** मानवीय जीवन क्या है और कैसे मिलता है?

**उत्तर :** प्रश्न अत्यंत मौलिक है, इस प्रश्न को कुछ गहराई से समझने की आवश्यकता है। मानव जीवन की परिभाषा एवं उसके मूल्य को नहीं समझने के कारण ही आज आम व्यक्ति इस बहुमूल्य उपलब्धि के लाभ से वंचित-सा जी रहा है। मैंने जीवन की संक्षिप्त परिभाषा दी है- **“सम्यग् निर्णायकं समतामयं, च यत्तज्जीवनम्”** अर्थात् जीवन वह है, जो अपने हिताहित का विवेक रख सकता हो और समतामय हो, इस परिभाषा के अनुसार मानव जीवन हमारे आत्म-कल्याण के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, जिसे संसार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कही जा सकती है, महर्षि व्यास ने कहा है- **“नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।”** प्रश्न का दूसरा पहलू है - पूर्वजन्म के किन अनुष्ठानों से मानवीय जीवन मिलता है ? मानवीय जीवन की प्राप्ति के लिए शुभ कर्म अपेक्षित है, यहाँ शुभ कर्मों का तात्पर्य यह है कि स्वभाव से-प्रकृति से भद्रिक हो, छली-पाखंडी न हो, विनम्र हो, बड़े बुजुर्गोंका विनय या आदर करे, छोटों के साथ मधुर और आत्मीय भवना से चले, क्रोध, मान, माया, लोभ की स्थिति से दूर रहे, अति सरल जीवन हो, इस प्रकार के दिव्य गुण अपनाये, तो उसे पुनः मानव जीवन मिल सकता है।”

मानवीय जीवन का सही मूल्य यही है कि वह इस जीवन में रहता हुआ एक दूसरे को आत्मीय भावना से देखे। जहाँ ऐसी वृत्ति आ जाती है, वह मानवीय जीवन है।

**प्रश्न-205 :** कोई आदमी बनकर संसार में आया, उसके बाद कर्म मानव योनि के अनुकूल नहीं किये, तो क्या होगा ?

**उत्तर :** पशु योनि में चला जायेगा और भी नीचे चला जायेगा। किसी के साथ कपट किया, धोखा किया, तो नीची योनि में जायेगा।

**प्रश्न-206 :** क्या मानव जीवन से फिर मानव जीवन मिल

सकता है ?

**उत्तर :** मानव बनने के लायक कर्म करे, तो पुनः मानव योनि मिल सकती है।

**प्रश्न-207 :** मानव जीवन से तो मोक्ष प्राप्त होता है, क्या अन्य किसी योनि से भी मोक्ष मिलता है ?

**उत्तर :** ऐसा दूसरा कोई जीवन नहीं है, जिसमें परिपूर्ण साधना की जा सके, जब तक दुर्जन बना रहेगा, हिंसा करता रहेगा, तब तक समभावी नहीं बनेगा और उसके अभाव से मोक्ष भी नहीं मिलेगा ?

**प्रश्न-208 (अ) :** मानव जीवन मिल गया, लेकिन साधु बने बिना मोक्ष मिलता है या नहीं ?

**उत्तर :** मानव यदि सब के साथ समता भाव ले आता है, समता का व्यवहार करता है और समता के अनुसार ही बोलता है, तो समझिए वह साधु जीवन में प्रवेश कर गया। अब रहा सवाल परिवेश-पोषाक का, तो वह भी स्वतः बदल जायेगी। किन्तु भावात्मक साधुता आये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। कोई भी व्यक्ति पाँचवी कक्षा से सीधी एम.ए. की डिग्री नहीं ले सकता। उसको क्रमिक रूप से अध्ययन करना पड़ेगा, उसी तरह से साधना में भी क्रमिक रूप से आगे बढ़ना पड़ेगा, तभी अंत में जाकर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। 5 वीं कक्षा का छात्र चाहे कि एम. ए. कि डिग्री सीधी मिल जाये, तो मिलेगी क्या? गृहस्थाश्रम पाँचवी कक्षा के समान ही है। अतः उससे मुक्ति नहीं मिल सकती है।

**प्रश्न-208 (आ) :** मोक्ष के लिए क्या साधु बनना जरूरी है ?

**उत्तर :** हाँ, बिना साधु बने मुक्ति नहीं हो सकती है। भाव से साधुता आयेगी, तभी मुक्ति होगी। भरत महाराज का उदाहरण भी यही बताता है, उन्हें भाव साधुता आ गयी थी। तभी केवल ज्ञान हुआ। इसीलिए उन्होंने तुरंत मुनि वेश धारण कर लिया था।

**प्रश्न-209 :** क्या कारण है कि महिलाएँ खड़े होकर ध्यान नहीं कर सकती हैं, जबकि पुरुष वर्ग कर सकता है ?

**उत्तर :** वैसे तो यह प्रश्न व्यक्तिगत हो जाता है, फिर भी उत्तर

दे दूँ। महिला वर्ग इसलिए खड़े होकर ध्यान नहीं कर सकती कि उनके शरीर की संरचना ऐसी है कि कोई व्यक्ति विपरीत या उद्वण्ड प्रकृति का हो, तो खतरा आ सकता है, इसलिए उनके लिए बैठे-बैठे ही ध्यान करने का विधान है।

**प्रश्न-210 :** व्यापार में स्वयं के नहीं चाहने पर चोरी बेईमानी करनी पड़ती है, उससे छुटकारा कैसे पाया जाये ?

**उत्तर :** छुटकारा पाने का रास्ता यह है कि अपने जीवन को सादा बनाया जाये। ईमानदारी और सत्यनिष्ठा से कार्य करनेवाले को जितनी और जैसी उपलब्धि हो, उसी के अनुरूप जीवन ढालने की कोशिश की जाये। कुरीति-रिवाजों को न पनपने दें। सादगीपूर्वक जीवन बितायें। जैसे पशु-पक्षी, उन्हें बेईमानी नहीं करनी पड़ती है, लेकिन इंसान ऐसा नहीं करता। इसलिए उसको बेईमानी और चोरी करनी पड़ती है। वह ऐसा आराम नहीं छोड़ना चाहता, फेसिलिटी का त्याग नहीं करना चाहता, इसलिए दुविधा में रहता है। यदि जीवन की आवश्यकताओं को सीमित किया जाये, तो बिना बेईमानी के भी जीवन का गुजारा तो हो ही सकता है, अधिक सुविधावाद ने ही अनैतिकता में वृद्धि की है।

**प्रश्न-211 :** एक तरफ तो ऐसा सुना जाता है कि साधर्मी भाई की सेवा के लिए भोजन व्यवस्था पर टिकट लगाने के पूर्वाचार्य विरुद्ध थे। जबकि संघ को पूरा खर्च उठाते हुए अनूठी और स्थायी साधर्मी भाई की सेवा का और मौका मिल जाता है। दूसरी तरफ ऐसा भी सुना जाता है पूर्व में इस तरह की सुंदर व्यवस्था कभी संघ के सन्मुख आयी ही नहीं थी। सही बात क्या है व इस विषय में आपका मार्गदर्शन क्या है, खुलासा करने की कृपा करें ?

**उत्तर :** यह विषय मुख्य तौर पर आपसे/गृहस्थों से संबंधित है। संत और सती वर्ग आरंभ-समारंभ में नहीं पड़ते हैं। पूर्वाचार्यों का जहाँ तक संबंध है और जहाँ तक मेरी स्मृति में है, पूर्वाचार्यों ने न 'हाँ' कहा और न 'ना' कहा। संघ की सुव्यवस्था की दृष्टि से टिकट भी लगे, तो पूर्वाचार्य 'हाँ' या 'ना' में नहीं रहे। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा.

का चातुर्मास जयपुर हुआ था, तब प्रश्न उठा था कि टिकिट लेंगे। लेकिन आचार्य श्री न 'हाँ' में थे, न 'ना' में। साधर्मि की स्थिति के बारे में संतों के नाम से चर्चा न करें। आपको जैसी सुविधा हो, वैसा सोचें। साधर्मि वात्सल्य आपके चिंतन का विषय है। संतों को 'हाँ' या 'ना' इसलिए नहीं कहनी है कि यदि वे 'हाँ' कहते हैं, तो समारंभ-सारंभ का दोष लगता है और 'ना' कहते हैं, तो अंतराय लगती है। आप अपना ध्यान रखकर जैसा उपयुक्त हो, सोच सकते हैं। यहाँ की क्या स्थिति है, यह आपके सोचने समझने की बात है। हमको कुछ नहीं कहें और न हमें कुछ कहना है। इसलिए संत-सती वर्ग को और पूजाचार्यों को 'हाँ' या 'ना' में लिप्त न करें।

**प्रश्न-212 :** जैन बालक हिंसा की ओर जा रहे हैं, इसके लिए जैन साधु मिलकर क्यों नहीं प्रयास करते ?

**उत्तर :** आपका प्रश्न मौलिक है, अच्छा है। यह प्रश्न साधु-संतों पर कितना निर्भर करता है, यह विचारणीय है। आप साधु-संतों पर उत्तरदायित्व डालते हैं, उससे अधिक उत्तरदायित्व आपको लेना चाहिए। बाल-बच्चे आपके घर में जन्म लेते हैं, शरीर से जन्म देना और बात है और संस्कारों से जन्म देना दूसरी बात है। शरीर से जन्म पशु-पक्षी भी देते हैं, लेकिन वे संस्कार नहीं दे सकते। चिड़िया, कबूतर, आदि माँस का खाना नहीं खाते हैं। माँस खानेवाले प्राणियों के कुछ और चिह्न होते हैं और नहीं खानेवालों के और चिह्न होते हैं। पशुओं और पक्षियों में भी अंतर है। सिंह, भालू, कुत्ता माँस खानेवाले हैं। ये जबान से पानी पीते हैं और इनके दाँत लंबे होते हैं। गाय, भैंस माँसाहारी नहीं है। हॉठ से पानी पीते हैं। इनके दाँत चपटे होते हैं। यह कुदरती-प्राकृतिक अंतर है। मनुष्य, गाय, बैल, भैंस की तरह पानी पीता है, तो मनुष्य का स्वभाव माँसाहारी नहीं है। यह माँसाहार परिस्थितिवश या गलत संपर्क से आ गया। माता-पिता का कर्तव्य है कि बच्चों को अच्छे संस्कार दिये जायें। फिर वे खोटा खाना नहीं खायेंगे। माता-पिता से अच्छे संस्कार मिल जाते हैं, तो बच्चा विपरीत आचरण नहीं करता। एक उदाहरण भोपाल का देता हूँ, भोपाल मध्यप्रदेश की राजधानी है। एक

वकील साहब का लड़का भीमसिंह एम.ए. में पढ़ रहा था। उसके बचपन के संस्कार माँस, मदिरा के नहीं थे। माता-पिता ने भी उसे उन्नत संस्कार दिये।

एक दिन भीमसिंह की कक्षा के विद्यार्थियों ने, जो प्रायः सभी उत्तम कुल जैसे ब्राह्मण, माहेश्वरी, ओसवाल आदि थे, सोचा कि कल रविवार है, पिकनिक मनायी जाये और सभी अपने घर से टिफिन ले कर आयें। पिकनिक में सभी विद्यार्थियों ने टिफिन खोले, तो कुछ में अंडे निकले। भीमसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। भीमसिंह ने कहा कि यह मनुष्य का खाना नहीं है। जबर्दस्ती से विद्यार्थी उनको खिलाना चाहते थे, पर उन्होंने इन्कार कर दिया। उन्होंने अध्यापक को पुकारा। अध्यापक ने कहा कि अंडे खा लो, तो क्या हो जायेगा ? भीमसिंह ने सोचा कि यहाँ तो कुएँ में भाँग पड़ी हुई है। वे वहाँ से भागकर अपने घर चले गये और अपने पिताजी को सारी घटना सुनायी। पिता ने कानूनी कार्यवाही की और विद्यार्थी एवं स्टाँफ को डाँट पिलायी।

जहाँ माता-पिता से मधुर धार्मिक संस्कार मिल जाते हैं, वहाँ विद्यार्थी संस्कारों के विपरीत नहीं जाता। जहाँ माता-पिता खाली शरीर पिंड का पोषण करते हैं, पवित्र विचारों का पोषण नहीं करते, वहाँ चरित्र गिरता है। आगे चलकर जब बच्चा स्कूल-कालेजों में जाता है, वह भी अंग्रेजी माध्यम की स्कूलों में तो वहाँ अध्यापक अपनी संस्कृति के अनुरूप शिक्षा देते हैं। आज उत्तम कुल की कहलानेवाली आपकी समाज है। उसको किसी बात की कमी नहीं है, लेकिन भावात्मक एकता की कमी है। उच्च कुल की तरह पवित्र संस्कार देनेवाली स्कूलें और कॉलेजों का निर्माण आप नहीं कर सकते क्या ? आप में क्षमता है, लेकिन रुचि नहीं है। आपने बच्चों के संस्कार निर्माण की तरफ ध्यान नहीं दिया, तो क्या स्थिति होगी ? इस ओर ध्यान दें। यदि आप यह नहीं कर सकते, तो संतों से धार्मिक शिक्षण दिलायें। खुले दिल से बच्चे संतों के पास पहुँचें, प्रश्न करें, समाधान लें। संत घरों में जाकर संस्कार देने की स्थिति में नहीं है। इस दृष्टिकोण से जो संतान गलत रास्ते पर जा रहे हैं, उनके माता पिता को पहले ध्यान रखना है तथा

संतों को भी अपने कर्तव्य दृष्टि से ध्यान रखना है। मूलरूप में उच्च वर्ग में मांसाहार के अधिक प्रचार का कारण संस्कारों का अभाव है।

**प्रश्न-213 :** जैन धर्म के सब संप्रदायों द्वारा इतना आध्यात्मिक व रचनात्मक कार्य का प्रचार होते हुए भी आज की नवयुवक पीढ़ी का धर्म के प्रति लगाव इतना कम क्यों है ? क्या इसमें और कोई सुधार आवश्यक है ?

**उत्तर :** सुधार की बहुत आवश्यकता है। कई छोटे बच्चों की धर्म के प्रति जिज्ञासा होती है, वे समझने के लिए प्रश्न उपस्थित करते हैं। यदि माता-पिता प्रश्नों का समाधान ठीक तरह से दे दें, तो विद्यार्थी धर्म की ओर अग्रसर होते हैं, लेकिन माता-पिता समाधान ठीक तरह से नहीं दे सकें और अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए कहते हैं कि तुम तो नास्तिक हो गये हो, तो विद्यार्थी धर्म के विरुद्ध हो जाते हैं और धर्म के सम्मुख आने से डर जाते हैं। यदि माता-पिता उनको खुली छूट दे दें कि प्रश्न का समाधान संतों के पास जाकर लो और संत उनको योग्य समाधान दे देते हैं, तो वे धर्म से विमुख नहीं होंगे, यदि संतों से उत्तर नहीं बन पड़े और वे भी कहने लग जायें कि तुम नास्तिक हो गये हो, जो ऐसे प्रश्न करते हो, तो भी विद्यार्थी धर्म से किनारा करने लग जाते हैं और 4 विद्यार्थी 10 को और अपने साथ ले जाते हैं। स्कूल-कॉलेजों के अध्यापक भी इस ओर ध्यान नहीं देते, इसलिए उनके संस्कार धर्म के विरुद्ध हो जाते हैं। यदि संतजन उन्हें स्नेह से समझायें, मार्गदर्शन दें और अपनी अक्षमता पर सरलतापूर्वक स्पष्ट कह दें कि आप और किन्हीं विद्वान मुनियों से समाधान लें, हमारी शक्ति के अनुसार हमने बता दिया है। तो युवक सहज ही उनकी नम्रता एवं सरलता से प्रभावित होंगे और धर्म के प्रति श्रद्धान्वित भी।

इसके साथ ही माता-पिता बच्चों को धर्मस्थानों पर ले जाने में संकोच करते हैं, सिनेमा में पहले ले जाते हैं, तो उन पर सिनेमा का बुरा असर पड़ता है। सिनेमा एवं अश्लील उपन्यास आदि के संस्कारों से आवारापन, डकैती आदि कुसंस्कार पड़ते हैं, जिन्हें आप आये दिन

समाचार पत्रों में देखते हैं। ये ही मूल कारण हैं उनके धर्म के विमुख होने के। जिन विद्यार्थियों के प्रश्नों का समाधान हो जाता है, वे धर्म के विपरीत नहीं जाते।

**प्रश्न-214 :** जैन धर्म का विज्ञान से क्या संबंध है ?

**उत्तर :** चूंकि जैन धर्म स्वयं वैज्ञानिक धर्म है, अतः इसका विज्ञान से संबंध अपरिहार्य है। किन्तु आधुनिक विज्ञान का, जो केवल भौतिक प्रगति में ही गतिशील है, जैन धर्म से उतना ही संबंध है, जितना कि वह मानव कल्याण में उपयुक्त होता है अर्थात् यदि विज्ञान मानव हित में काम करे, तो जैन धर्म विज्ञान के विरुद्ध नहीं है। यदि विज्ञान संहार का काम करता है, हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र बनाता है, तो जैन धर्म उसके विरुद्ध है। यदि विज्ञान आत्म स्वरूप को नहीं समझता तो धर्म उसके विरुद्ध है। यदि विज्ञान अपनी शक्ति पाप में न लगाकर धर्म में, विश्व कल्याण में लगाये, तो विज्ञान धर्म के विरुद्ध नहीं है।

**प्रश्न-215 :** पाप, पुण्य और धर्म में क्या अंतर है ? मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ?

**उत्तर :** पाप अशुभ कर्म है और पुण्य शुभ कर्म है। पाप पुण्य की स्थिति में रात-दिन का अंतर है। पाप पत्थर की नाव है और पुण्य लकड़ी की नाव है। समुद्र पार करने के लिए पत्थर की नाव सबसे पहले छोड़ी जाती है और लकड़ी की नाव का सहारा लिया जाता है। वैसे ही पाप को सबसे पहले छोड़ा जाता है और पुण्य को बाद में, क्योंकि पुण्य के परिणाम स्वरूप मनुष्य शरीर मिलता है और उसके सहारे आत्मा मोक्ष की ओर गति करती है। श्रुत धर्म, चारित्र धर्म पुण्य से प्राप्त शरीर के माध्यम से जीवन में उतर जाये, तो उससे मोक्ष मिलता है, पुण्य और पाप दोनों छूटते हैं, इसलिए पुण्य धर्म के साथ सहयोगी है। पुण्य अंत में छूटता है और पाप सबसे पहले छूटता है। यह पुण्य और पाप में अंतर है, किन्तु धर्म पुण्य से भिन्न है। धर्म आत्म विशुद्धिपूर्वक मुक्ति की ओर गति प्रदान करनेवाली एक प्रक्रिया है।

**प्रश्न-216 :** आप अद्वैतवाद में विश्वास करते हैं, या भगवान

के भिन्न-भिन्न रूप मानते हैं ?

**उत्तर :** भाई बैशीधर जी ने प्रश्न ज्ञान के अनुरूप रखा, आत्म का स्वरूप एक है, इस दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं। जैसे मनुष्य जाति एक है, इस दृष्टि से अद्वैत को माना जा सकता है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, परमात्मा के तुल्य शक्ति रखती है, वह विकास करती है, तो एक रोज परमात्मा बन जाती है, तो विभेद की स्थिति नहीं रहती, इस प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मा का रूप लिये हुए है। अतः जैन दर्शन अपेक्षा दृष्टि से एक हैं, द्वैत एवं अद्वैत दोनों में विश्वास रखता है। अद्वैत की दृष्टि से सभी आत्माएँ आत्मत्व की दृष्टि से एक हैं और द्वैत की दृष्टि से सभी का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है।

**प्रश्न-217 :** नवकार मंत्र में पाँच पद हैं, सिर्फ पाँचवें पद में ही गमो लोए सव्व साहूणं क्यो क्हा, बाकी चार में सव्व शब्द क्यो नहीं क्हा ? क्रिया पालने में ढीले होने पर वंदना करने का मना किया जाता है। मार्ग में कोई भी साधु मिले, तो वंदना करना या नहीं ?

**उत्तर :** इस प्रश्न को कुछ विस्तार से समझने का प्रयास करें- व्याकरण शास्त्र में समास प्रकरण में यह नियम है कि-

**“द्वंद्वदौ द्वंद्वान्तेव श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभि संबंधयते”**

अर्थात् द्वंद्व समास में पद के आदि में और अंत में रहा हुआ पद सर्वत्र संयुक्त होता है।

जैसे राम, श्याम, दिनेश और महेश को कहो। यहाँ और शब्द एक जगह आया है, किन्तु इसका संबंध सभी जगह है, जैसे राम और श्याम और दिनेश आदि....। ठीक इसी प्रकार पंचम पद से आगत सव्व शब्द उपर के पदों में भी संयुक्त होता है। दूसरी बात प्रश्नकर्ता को यह ज्ञात होगा ही कि स्कूल में जहाँ 50 अध्यापक बैठे हों, उन में प्रिंसिपल, प्रोफेसर आदि अलग-अलग कोटि के अध्यापक बैठे हैं। कोई व्यक्ति उनमें से दो-चार नाम लेकर नमस्कार करेगा। उसके बाद सब का नाम लेने में देर लगेगी, इसलिए कहेगा कि सब गुरुजनों को नमस्कार है।



अध्यापक की योग्यता रखनेवालों को नमस्कार है। जो योग्यता नहीं रखते हैं, उनको नमस्कार नहीं है। वैसे ही जहाँ साधु का रूप है, वह शरीर से नहीं, पोषाक से नहीं, पोषाक तो पहचान के लिए है, लेकिन परिपूर्ण अहिंसा, परिपूर्ण सत्य, परिपूर्ण अचौर्य परिपूर्ण ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करनेवाले हैं अर्थात् छोटे प्राणी की जीव हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, बिना आज्ञा के वस्तु नहीं लेना, जगत की स्त्री जाति को माता और बहिन के समान समझना। अपरिग्रह में रूपये, पैसे, टिकिट आदि अपने पास नहीं रखना, धातु मात्र की कोई चीज नहीं रखना, चश्मे में भी धातु या लोहे की कील न हो। अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श जिसमें है, वह साधु है, भगवान ने उसे साधु बताया है। उससे विशेष योग्यतावाले साधु उपाध्याय होते हैं। उनसे अधिक योग्यतावाले आचार्य। आचार्य से उपर बढ़ते हैं, तो अरिहंत होते हैं और उसके बाद सिद्ध बन जाते हैं। ये पाँच पद है। जैसे सब मास्टर्स को नमस्कार हैं, वैसे ही सव्वसाहूणं में सब साधुओं को 'लोए सव्व साहूणं' पाँच महाव्रतों के धारक जो साधु पद के योग्य हैं, उन सब को नमस्कार है और जो साधु पद के योग्य नहीं है, उनको नमस्कार नहीं किया। साधना की पहचान के आधार पर नमस्कार है।

**प्रश्न-218 :** कहते हैं कि पर्युषण पर्व व संवत्सरी शास्त्रों पर आधारित है। क्या शास्त्र हमें भिन्न-भिन्न पर्युषण मनाने का निर्देश देते हैं या हम ही शास्त्रों को सही ढंग से नहीं समझ पाये हैं?

**उत्तर :** प्रश्न मौलिक है। संवत्सरी का दिन आत्मशुद्धि का है, वह वर्ष में एक बार आता है। शास्त्रों में इतना उल्लेख है कि जिस दिन से चातुर्मास प्रारंभ हो, उस दिन से एक महिना बीस रात्र व्यतीत होने पर संवत्सरी मनायें, घड़ियों के अनुसार 49 वाँ या 50 वाँ दिन आता है, यह शास्त्रीय उल्लेख है, शास्त्रीय गणित जितना चाहिए, उतना उपलब्ध नहीं हुआ। अतः अजमेर बृहद् सम्मेलन में हिंदुस्तान के प्रमुख संतों ने निर्णय किया कि चातुर्मास बैठने के पश्चात् चाहे दो श्रावण हो या दो भादवा हो, संवत्सरी पर्व 50 वें दिन मनाना चाहिए। जो कि दो श्रावण एवं

दो भाद्रपद होने पर प्रथम भाद्रपद में आयेगा, जिससे एक नियम हो जाये। समाज एक रूप बना रहे।

भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी के प्रसंग से जब यह प्रश्न चला, तब मैं सरदार शहर में था। उस समय संपतमलजी गादिया मेरे पास आये और उन्होंने पूछा कि निर्वाण शताब्दी के संबंध में आपका क्या कार्यक्रम है? मैंने कहा कि हमने तो पूरा जीवन ही समर्पित कर दिया है और उस पर चल रहे हैं। फिर भी मेरा एक सुझाव है कि सारा जैन समाज-स्थानकवासी, तेरापंथी, मूर्तिपूजक एवं दिगंबर सब एक रोज संवत्सरी मनाना निश्चित कर लें, तो अच्छा रहेगा। इसमें जो तिथि का भेद आता है, उसको सब मिलकर एक ही रोज के लिए निर्णय कर लें। तो 25 वीं निर्वाण शताब्दी की यह बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है। इस पर उन्होंने पूछा कि इसमें आप क्या योगदान देना चाहते हैं ?

मैंने कहा कि मेरा पूरा योगदान मिलेगा। सारी समाज मिलकर जिस रोज भी एक संवत्सरी निश्चित कर देगी, मैं बिना किसी शर्त के उस रोज संवत्सरी मनाने को तत्पर हूँ। मुझे पूछने की भी आवश्यकता नहीं है।

उनको ऐसा लगा कि जैसे दूसरे क्षेत्र के व्यक्ति बोलते कुछ हैं और करते कुछ हैं। ऐसा ही यहाँ होगा। इसलिए उन्होंने पूछा कि क्या यह बात शासकीय स्तर की मीटिंग जयपुर में होनेवाली है, उसमें रख दी जाये ?

मैंने कहा कि जरूर रख दीजिए, मेरी तरफ से एकरूपता है। वे जयपुर गये और वहाँ पर एक कमेटी राज्य सरकार की ओर से बनी हुई थी, उस कमेटी के सभ्यों के सामने यह बात रखी। सब खुश हुए। उन्होंने प्रयत्न किया होगा। लेकिन जब वे मेरे पास वापस आये, तो मैंने पूछा कि संवत्सरी के बारे में क्या हुआ ? उन्होंने कहा कि जैसा आपने आश्वासन दिया, वैसी उदारता सभी दिखाते, तो एक दिन निश्चित होने में देर नहीं लगती, लेकिन कई लोग तर्क करते हैं, ऊँचे-नीचे होते हैं, इसलिए एक दिन निश्चित नहीं हो सका। मैंने कहा कि आप प्रयत्न

करते रहिए, मेरी तरफ से छूट है।

सारा जैन समाज एक दिन संवत्सरी मनाने में एक मत हो जाता है, तो वह सभी दृष्टियों से एक बड़ी उपलब्धि होगी। मैं सदा-सदा इसके लिए तत्पर रहा हूँ और रहूँगा।

सरदार शहर की इस घटना से लगभग चार वर्ष पश्चात् जोधपुर वर्षावास में भारत जैन महामंडल का शिष्टमंडल एवं कलकत्ता से प्रकाशित दैनिक विश्व मित्र के संपादक आदि उपस्थित हुए, उस समय जब उन्होंने पुनः संवत्सरी एकता विषयक राय पूछी, तो मैंने कहा कि मैं सरदार शहर में अपने मुक्त विचार व्यक्त कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त यदि पूरी जैन समाज द्वारा विक्रम संवत् के स्थान पर शक संवत् जो कि राष्ट्रीय संवत् है, को मान्यता दे दी जाये, तो भी इस समस्या का समाधान हो सकता है, क्योंकि शक संवत् ईस्वी सन् के समान तारीखों के आधार पर चलता है। जैसे वीर निर्वाण की कुछ शताब्दियों पश्चात् ही विक्रम संवत् को अपनाया गया। इसी प्रकार शक संवत् को भी अपनाया जा सकता है। प्रारंभ में कुछ दिन कठिनाइयाँ/अटपटापन लग सकता है। किन्तु शनैः शनैः यह विक्रम संवत् के समान ही व्यवस्थित बन सकता है।

इस पर आगंतुक सदस्य कहने लगे कि यह तो एक नया ही मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इस रूप में मैं मेरी स्थिति से पूरा प्रयत्न कर रहा हूँ।

**प्रश्न-219 :** जैन धर्म में मनोविज्ञान का क्या स्थान है ?

**उत्तर :** स्पष्ट शब्दों में कहूँ, तो जैन दर्शन में जो मनोविज्ञान का स्थान है, वह इतर दर्शनों में नहीं है, मनोविज्ञान का अर्थ है - मन की समस्त वृत्तियों का विज्ञान, जिन्हें हम सामान्य मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान एवं परा मनोविज्ञान कहते हैं। उन सब का विश्लेषणात्मक ज्ञान मनोविज्ञान है। जैन दर्शन में मतिज्ञान के जो मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आदि पर्याय बताये गये हैं, उनमें उपर्युक्त तीनों प्रकार के मनोविज्ञानों का अंतर्भाव ही जाता है।

मनोविज्ञान शब्द भले ही हमें आधुनिक लगता है। लेकिन जैन तत्वदर्शन में मन के विज्ञान का विश्लेषण बहुत गहराई तक पहुँचा है। जैन तत्वदर्शन में बाल संस्कार से लेकर युवा चेतना एवं वृद्ध व्यवस्था तक की समस्त समस्याओं को मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समाहित किया गया है। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जैन दर्शन मनोवैज्ञानिक एवं उससे ऊपर उठकर आत्म-विज्ञानी दर्शन है।

**प्रश्न-220 :** क्या अपना स्थानकवासी समाज अखिल भारतीय स्तर पर एक हो सकता है ? इसमें आपका क्या योगदान हो सकता है और इसके लिए आप वर्तमान में क्या-क्या प्रयत्न कर रहे हैं ?

**उत्तर :** प्रश्न सामयिक है, उत्तर के पूर्व जरा स्थानकवासी शब्द के अभिप्राय को समझ लें, यह स्थानकवासी संज्ञा तो बाद में बन गयी है, वस्तुतः स्थानकवासी समाज का मूल नाम साधुमार्गी है। इससे समग्र जैन समाज का ग्रहण हो जाता है। साधु मार्ग अर्थात् सुंदर मार्ग। जो साधक साधु जीवन की भूमिका के आचार-विचार को मन, वाणी और कर्म से एक होकर अनुसरण करता है। दुनिया से स्वल्प लेकर और अधिक से अधिक जन-कल्याण हेतु समता का प्रचार-प्रसार करता है। अपनी मर्यादा के अनुसार सीमा में रहता हुआ जितना योगदान कर सके, करता है, वह साधक साधुमार्ग का अनुसर्ता कहलाता है। इसी का नाम स्थानकवासी है। अब प्रश्न के मूल पहलू पर आये-स्थानकवासी समाज की एकता की दृष्टि से भी बहुत प्रयत्न हुए हैं और वर्तमान में भी चल रहे हैं।

संवत् 2009 में सादड़ी सम्मेलन में स्थानकवासी समाज के अधिसंख्य प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। उन्होंने अपनी मर्यादा के अनुकूल जो आचार संहिता सर्वानुमति से बनायी उस पर सभी समाज के अग्रणी साधु आरूढ हो जायें, तो आज भी एकीकरण संभव है। मैं इस उद्देश्य को लेकर चल रहा हूँ और जहाँ भी जाता हूँ, प्रायः इसे दोहराता हूँ। समता समाज रचना के सिद्धान्त पर सब एक मत हो जायें, तो एकता हो सकती है। इसके लिए प्रयास पहले भी चल रहे थे और आज भी चल

रहे हैं, मैंने इसकी भूमिका के रूप में सांवत्सरिक एकता के लिए पहल की है, जिसका स्पष्टीकरण मैं कई बार कर चुका हूँ।

**प्रश्न-221 :** एक आदमी अपनी धर्मपत्नी का देहांत होने के बाद दूसरा विवाह कर सकता है और करता है। जबकि जैन मान्यतावाली एक लड़की उसकी शादी के बाद एक महीने में उसका पति मर जाता है, तो उसको सारी जिंदगी विधवा बनकर व्यतीत करनी पड़ती है, जैन धर्म इस विषय में क्या कहता है ?

**उत्तर :** प्रश्न सामाजिक होते हुए भी सामयिक है। आज की परिस्थितियों एवं प्रसंगों में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। किन्तु मुक्त भावनाओं से विधुर विवाह हो रहे हैं, उस स्थिति में विधवा के संबंध में प्रश्न उठना सहज है। किन्तु यहाँ विचारणीय इतना ही है कि धर्म-दर्शन इस विषय में क्या कहता है ?

इस बात को आप अच्छी तरह समझ लें कि धर्म का उद्देश्य है आत्म कल्याण की प्रेरणा देना एवं उसके विधि-विधानों को प्रस्तुत करना। विवाह संबंध एक सामाजिक रीति रिवाज है। आध्यात्मदर्शन संयम-ब्रह्मचर्य की प्रेरणा देता है। व्यक्ति को अधिक-से-अधिक संयमित रहना चाहिए।

इस दृष्टि से धर्म न तो विधुर विवाह की अनुमति देता है और न विधवा विवाह की। धर्म की दृष्टि से तो विधुर को भी पुनर्विवाह नहीं करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और विधवा को भी।

चूंकि प्रथम विवाह के समय ही विवाहकर्ता व्यक्ति (नारी-पुरुष) जगत्-साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता है कि संबंधित होनेवाले एक व्यक्ति से अतिरिक्त संसार के समस्त पुरुष-नारियों को भाई बहिन की दृष्टि से देखूँगा। अब आप ही सोचिए कि दूसरा विवाह करनेवाला क्या बहिन से विवाह नहीं कर रहा है ?

**प्रश्न-222 :** यदि विश्वधर्म सम्मेलन का आयोजन विदेश यानि यूरोपीय देश में होता है और आपको जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करने का आमंत्रण मिलता है, तो आप जायेंगे या नहीं ? यदि नहीं जायेंगे, तो क्यों ? क्या आप किसी शिष्य को भेजेंगे ? या किसी नवयुवक को जो

दीक्षा में नहीं है, तैयार करके भेजेंगे ?

**उत्तर :** जब हमने जगत साक्षी से परिपूर्ण अहिंसा का व्रत अंगीकार किया है, परिपूर्ण अपरिग्रह की मर्यादा में चल रहे हैं, तो ऐसी स्थिति में भगवान महावीर ने कहा कि तुम परिपूर्ण अहिंसक तभी रह सकोगे, जबकि छोटे से छोटे जीव का उपमर्दन स्वयं करो नहीं, कराओ नहीं व करते को अच्छा समझो नहीं। यह हमारी प्रतिज्ञा है। इसका पालन करने के लिए हिंसा करके हम प्रचार नहीं कर सकते। इसीलिए हमने कपड़ा मुँह पर बांध रखा है। इसमें वायुकाय के जीवों की रक्षा कर सकते हैं। यदि हम जीवों को, जो कि अपेक्षा से हमारे परिवार के सदस्य हैं, काल/हनन करते हुए उपदेश दें, तो यह संयमी जीवन में दोष लगाना होगा। विदेश जाने के लिए निश्चित रूप से हिंसा का प्रसंग आयेगा, वाहन में जाना पड़ेगा। इस स्थिति में हिंसा करके उपदेश नहीं दे सकते। विदेश में आने की बात तो बहुत बड़ी है, लेकिन जहाँ पर हम ठहरे हुए हैं, वहाँ से यहाँ पांडाल तक आना है और बरसात की छोटी-छोटी बूँदे गिर रहीं हैं। तो हम आ नहीं सकते, क्योंकि इससे पानी के जीवों की हिंसा होती है। विदेश जाने में तो बहुत बड़ी हिंसा का प्रसंग है। परिपूर्ण समता भाव की साधना करनेवाला साधक अपनी मर्यादा में रहकर ही प्रचार-प्रसार कर सकता है, जिन्होंने प्रण नहीं लिया है और जो विद्वान हैं, जीवादि तत्वों की अच्छी जानकारी रखते हैं, वे अपनी मर्यादा समझकर विदेशों में प्रचार-प्रसार कर सकते हैं, हम अपनी मर्यादा में रहकर ही प्रचार-प्रसार का कार्य कर सकते हैं।

**प्रश्न-223 :** भूतकाल मां कदीपण न थई एटली भयंकर हिंसा वर्तमान काल मां भारत मां तथा विश्व मां थई रही छे। भारत नी माँसाहारी प्रजा नी जरूरियात उपरांत परदेशियों ना पोषण माटे भारत मां थी पशु हिंसा माटे निकास करवा मां आये छे, सरकार एने प्रोत्साहन आपे छे एने कानून थी रोकवा माटे कोई उपाय जतावा कृपा करशो।

**उत्तर :** आज विश्व में हिंसक मान्यताओं का जिस प्रकार विस्तार हो रहा है, उस स्थिति में अहिंसा प्रेमियों के मानस में तड़फन उत्पन्न होना स्वाभाविक है। रहा सवाल इसे रोकने का, तो इसके लिए व्यापक स्तर पर वातावरण बनाने की आवश्यकता है। जनता को पुण्य

और पाप के अतिरिक्त माँसाहार से होनेवाली हानियाँ समझायी जायें, शाकाहार के लाभ और वह मानव प्रकृति के अनुकूल है- यह समझाया जाये। जनता जागृत हो जाती है, तो सरकार, जो जनता की ही है, उसे अपने आप तैयार होना पड़ेगा। जिस देश में अहिंसा की बदौलत स्वाधीनता मिली हो, उसमें हिंसा बढ़े, यह अत्यंत विचारणीय ही नहीं, चिंताजनक भी है।

**प्रश्न-224 :** जैन धर्म सर्वोच्च होते हुए भी विश्व में नहीं फैल सका, क्या इसके लिए हमारी आपसी फूट को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है ?

**उत्तर :** वास्तव में जैन धर्म के सिद्धांत सर्वोत्तम हैं, किन्तु इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाना इसकी सर्वोत्तमता में संदेह उत्पन्न नहीं कर सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सर्वोत्तम अथवा श्रेष्ठ तत्त्वों की उपलब्धि कम ही हुआ करती है। विश्व में कंकड़, पत्थर अधिक होंगे, किन्तु बहुमूल्य जवाहरात कितने होंगे ? डालडा के मुकाबले शुद्ध घी कितनी मात्रा में मिलेगा ?

इसके उपरांत भी जैन धर्म के यथोचित मात्रा में प्रचारित नहीं होने में आपसी मत भेदों को भी कारण ठहराया जा सकता है। किन्तु एक कारण यह भी है कि यह आप व्यापारियों के हाथ में आ गया, जिन्हें धनोपार्जन के अतिरिक्त धर्म के प्रचार-प्रसार का अवकाश ही नहीं मिलता है।

**प्रश्न-225 :** ध्यान योग और केवल ज्ञान की अवस्था में क्या फर्क है ? ध्यान योग गृहस्थी को होता है या नहीं ? होता है, तो किन परिस्थितियों में और यदि नहीं तो क्यों ?

**उत्तर :** ध्यान योग एवं केवल ज्ञान का संबंध साध्य- साधन भाव का माना जा सकता है। ध्यान योग की साधना जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो केवल ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न का दूसरा पहलू है- गृहस्थ जीवन में ध्यान योग होता है या नहीं? शास्त्रकारों ने ध्यान के आर्त, रौद्र धर्म और शुक्ल चार भेद बताये हैं। इनमें दो अप्रशस्त एवं दो प्रशस्त हैं। प्रशस्त ध्यानों में से धर्म

ध्यान श्रावक को हो सकता है। इस अर्थ में श्रावक को ध्यान योग हो सकता है। यह एक अलग बात है कि गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ व्यक्ति कितनी मात्रा में ध्यान योग कर सकता है, कितना आगे बढ़ सकता है, कितनी मात्रा में सत्य और अहिंसा का पालन कर सकता है, यह विचारणीय है। जितनी मात्रा में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह का पालन कर सकता है, उतनी ही मात्रा में वह आगे बढ़ सकता है। गृहस्थावस्था में रहता हुआ व्यक्ति सर्वथा हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। सर्वथा सत्य का पालन नहीं कर सकता और इनका पालन किये बिना ध्यान योग की साधना आगे नहीं बढ़ सकती। गृहस्थाश्रम में रहता हुआ व्यक्ति ध्यान योग की साधना कर सकता है, लेकिन केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। एम.ए. की डिग्री लेनी है, तो उसके लिए उतना ही अध्ययन करना होगा। पाँचवीं कक्षा पास करनी है, तो पाँचवीं कक्षा का अध्ययन करना होगा। तब वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ एक दिन एम. ए. की डिग्री पा सकता है। इसी प्रकार श्रावक की पाँचवीं कक्षा से उपर उठकर साधुत्व की उच्च कक्षाओं में प्रवेश करने पर ही केवल ज्ञान हो सकता है।

**प्रश्न-226 :** केवल ज्ञान परिपूर्ण अहिंसा के बिना नहीं हो सकता, तो भरत चक्रवर्ती को कैसे हो गया ?

**उत्तर :** भरत चक्रवर्ती की ज्ञान की धारा अंतर्मुहूर्त में अहिंसा के साथ आगे बढ़ती गयी और वे 13 वें गुणस्थान में आ गये। केवलज्ञान होने के बाद फिर वे गृहस्थ में नहीं रहे। वैसी पराकाष्ठा की स्थिति आने पर ही केवलज्ञान होगा। भरत के साथ जब तक राज्य की व्यवस्था थी, तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके। उनके हाथ की अंगुली से अंगुठी गिरी, मोह-ममत्व छूटा। शरीर का भी ममत्व छूटा, समता प्राप्त हुई और वे भाव से साधु हो गये। वैसी स्थिति आने पर ही केवलज्ञान हुआ।

**प्रश्न-227 :** महावीर भगवान के समय से ही आज तक साध्वीजी की संख्या अधिक है, जबकि संत समुदाय कम है, इसका क्या कारण है ?



**उत्तर :** धर्म का संबंध हृदय की सरलता एवं निर्मलता से अधिक होता है और वह सरलता-नारी हृदय में अधिक पायी जाती है, इसलिए वे धर्म भावनाओं में भी आगे रहती हैं। बहिनों में कोमलता और वात्सल्य भाव कम हो जाये और पुरुषों में अधिक हो जाये, तो पुरुष आगे नंबर ले सकते हैं। पुरुषों में प्रायः वैसा वात्सल्य भाव नहीं है। पुरुषों में कठोरता है। बहिनों में सम भाव की मात्रा भी अधिक होती है। ये अपनी साधना के प्रति जागरूक रहती हैं, उनका स्वभाव वात्सल्य भाव से युक्त रहता है। पुरुष बहिनों जैसा वात्सल्य भाव नहीं रख सकते, इसलिए बहिनें धर्म ध्यान में आगे रहती हैं। आध्यात्मिक जीवन में भी उनसे अधिक सहयोग मिलता है। यही कारण है कि उनकी संख्या साधुओं से अधिक है।

**प्रश्न-228 :** क्या साधु समाज देश और समाज के पहलुओं से परे रह सकता है। अगर नहीं, तो वह किस हद व सीमा तक अपने आपको सम्मिलित कर सकता है?

**उत्तर :** साधु, जिसने पूर्ण साधुता को समझा है, जो परिपूर्ण मर्यादा में रहते हुए व्यक्ति, समाज, परिवार और राष्ट्र में भावात्मक एकता और जनकल्याण के कार्यों में प्राण फूंक सकता है, वह समाज एवं देश से अलग नहीं रहता है। वह एक सीमा में रहता हुआ समाज से अनुबद्ध रहता है। तथापि वह व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से अलग भी होता है। एक बगीचे या फुलवारी में पुष्प अपने आप में सुगंध भर लेता है। वह अपनी स्थिति से अलग हटकर प्रचार-प्रसार के लिए नहीं जाता, किसी समाज या पार्टी के बीच में नहीं जाता। जिसको भी सुगंध और ऑक्सीजन की आवश्यकता है, वह उसके समीप जाकर ऑक्सीजन लेकर अपने प्राणों की सुरक्षा कर सकता है। वह पुष्प जिस प्रकार व्यक्ति समाज और पार्टी को सुगंध का दान देता है, प्राण-दान देता है, वह समाज, व्यक्ति और राष्ट्र से परे होते हुए भी अपने मौलिक स्वरूप के साथ संबंधित है, उसी प्रकार संत समाज पूर्ण सुगंध से भरा हुआ है। वह अपनी आत्मिक साधना में रत रहता है, समतामय सुगंध युक्त है।

उनके पास जानेवालों में शांति का संचार होता है। इस प्रकार संत वर्ग समाज से संबंधित भी हैं और अलग भी।

**प्रश्न-229 :** जैसा कि केवली भगवान किसी व्यक्ति का भविष्य बतला देते हैं, जैसा कि कुछ महान व्यक्तियों का मोक्ष जाना निश्चित है। उसी प्रकार हमारा भी भविष्य पूर्व निश्चित है, तो फिर हमें पुरुषार्थ करने और धर्म करने की क्या जरूरत है ?

**उत्तर :** चिंतन करिए कि भोजन करने से भूख शांत होती है और भोजन से शरीर को ताकत मिलती है, यह सुनिश्चित है। भोजन करेंगे, तो भूख मिटेगी। कोई यह सोचे कि मुझे हाथ-पैर नहीं हिलाने हैं। चुपचाप कमरे में बैठ जाऊँ, वह चुपचाप बैठ जायेगा, तो अन्न अपने आप भूख मिटा देगा या हाथ पैर हिलाने पड़ेंगे ? पुरुषार्थ करना पड़ेगा ? भूख मिटाने की ताकत अन्न में है, लेकिन हाथ-पैर हिलाकर भोजन करना पड़ेगा। कदाचित् हाथ-पैर नहीं हिलाये और माता से भोजन देने के लिए कहे, तो माता का हृदय वात्सल्य भावना से ओतप्रोत होता है, अतः वह सीधा भोजन लाकर पुत्र के सामने रख दे, तो क्या इतने मात्र से उसकी भूख मिट जायेगी या पुत्र को कष्ट करना पड़ेगा ? और थाली में से उठाकर मुँह में रखना पड़ेगा ? कदाचित् वह स्वयं निवाला मुँह में नहीं ले और माता से कहे। माता अपने हाथ से उठाकर उसके मुँह में रखने को तैयार हो जाये, तो भी मुँह खोलने का पुरुषार्थ तो उसको ही करना पड़ेगा। यदि मुँह में चला गया, तो चबाने का पुरुषार्थ तो उसे ही करना पड़ेगा। चबाने का पुरुषार्थ करेगा, आंतरिक जठराग्नि पुरुषार्थ करेगी, तभी रस बनेगा और रस बनने पर ताकत आयेगी।

वही स्थिति आध्यात्मि जीवन के साथ है। केवलज्ञानी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करते हैं। वे यह स्पष्टतः देखते-जानते हैं कि व्यक्ति अमुक पुरुषार्थ करेगा, उसे अमुक-अमुक उपलब्धि होगी। अमुक व्यक्ति पुरुषार्थ हीन होकर बैठा रहेगा, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। अतः उनके ज्ञान से हमारा पुरुषार्थ प्रभावित नहीं होता है, हमें

क्या पता कि केवलियों की दृष्टि में हमारा पुरुषार्थी जीवन झलक रहा है या अपुरुषार्थी ? अतः पुरुषार्थ ही सब कुछ है। आप पुरुषार्थ से शक्ति का विकास कर सकते हैं।

पुरुषार्थ ही भाग्य बनाता है और पुरुषार्थ से ही शुभाशुभ फल मिलता है, इसलिए भाग्य भरोसे नहीं रहकर पुरुषार्थ एवं धर्म साधना करने की आवश्यकता है, क्योंकि समस्त तीर्थंकरों ने भी पुरुषार्थ पर ही बल दिया है। पुरुषार्थ ये हैं, यथा - उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम।

**प्रश्न-230 :** आत्मा इस जीवन में जो कर्म बाँधता है, वे सब कर्म इसी जीवन में क्यों नहीं भोगता है? उसे अगले जन्म में या और भी अगले जन्म में क्यों भोगना पड़ता है ?

**उत्तर :** कर्म बंध के संबंध में एक बात समझ लें कि कर्मों का बंधन भावनाओं के अनुसार होता है। उनकी काल मर्यादा का निर्धारण कषाय के तारतम्य पर निर्भर है। यदि सामान्य कषाय के अनुसार कर्मबंध हुआ है, तो उसकी स्थिति अल्प कालिक होगी और तीव्र कषाय के द्वारा दीर्घकालिक, जो कि अनेक जन्मों तक भी टिक सकती है। एक व्यावहारिक उदाहरण लें- किसान एरंड, मक्का, जवार, गेहूँ, बाजरा आदि बोता है। उसका फल अल्पकाल में ले सकता है, लेकिन एक व्यक्ति आम का बीज बोता है या आम का वृक्ष लगाता है, तो उसको फल अनेक वर्षों बाद मिलता है। वैसे ही जीवन में जिस प्रकार के कर्म जिसने बाँधे हैं, जिन भावों के साथ बंध है, उनका फल भी उसको आगे चलकर मिलता है। निकाचित कर्मों का फल अनेक जिंदगियों के बाद भी भोगना पड़ता है।

**प्रश्न-231 :** वैज्ञानिकों का दावा है कि वे चंद्रमा पर पहुँचे हैं, लेकिन शास्त्रों में मेरुपर्वत की ऊँचाई उससे ज्यादा है। कौन सही है और कैसे ?

**उत्तर :** यह प्रश्न युगीन एवं आगमिक संदर्भों से अनुबंधित है। इस विषय में एक बात समझ लेना आवश्यक है कि जैनागमों का

प्रमुख प्रतिपाद्य मुक्ति मार्ग है। भूगोल-खगोल-संबंधी वर्णन वहाँ प्रासंगिक रूप में ही हुआ है। चूंकि इस वर्णन से आत्म साधना अथवा कल्याण का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतः इस विषय पर अधिक चर्चा निरर्थक ही होगी। स्थूल रूप से आगमों में चन्द्र को सूर्य से उपर माना गया है और अनेक चन्द्र एवं अनेक सूर्य माने गये हैं, किन्तु आज आगमिक गणित की कुंजी कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इधर विज्ञान भी अनेक चन्द्र मानने के पक्ष में आ गया है। किन्तु यह स्मरण रहे कि विज्ञान सदा परिवर्तनशील रहा है। उसकी नयी खोजें पुरानी को नकारती जाती हैं, अतः उसे भी एकांत सत्य मान लेना भारी भूल होगी।

चन्द्र पर पहुँचने के विषय में भी अभी सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हुए हैं। कोई उसे चन्द्र मानते हैं और कोई नहीं।

सन 1975 में उदयपुर में एक सौर वैधशाला का उद्घाटन करने के लिए तत्कालीन उप राष्ट्रपति बी.डी. जत्ती आये थे। उस समय राजस्थान एवं गुजरात के अनेक मिनिस्टर भी उपस्थित थे। उस समय वहाँ एक पम्पलेट वितरित हुआ। जिसमें यह स्पष्ट घोषणा थी कि महेसाणा रिसर्च इंस्टीट्यूट वैज्ञानिकों का यह दावा है कि अमेरिका ने जो चन्द्रमा पर जाने की घोषणा की, वह मिथ्या है। दूसरे दिन उदयपुर के स्थानीय दैनिक पत्रों में तथा नवभारत टाइम्स में उस पम्पलेट को ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया। यही नहीं, नवभारत टाइम्स ने उस पर टिप्पणी भी की कि इस पर्चेने खगोलशास्त्रियों में खलबली मचा दी है।

1. नवभारत टाइम्स में मुद्रित पर्चेकी अविकल कॉपी यहाँ प्रस्तुत है।

-संपादक

**क्या चाँद पर अपोलो उतरा ?**

**सौर-वैधशाला के उद्घाटन पर बँटे पर्चे से खलबली**

देश के विभिन्न भागों तथा आस्ट्रेलिया से अधिकतर वैज्ञानिक सौर भौतिकी अनुसंधान पर संगोष्ठी में भाग लेते हैं। इस अवसर पर

महेसाणा की 'दि अर्थ रोटेशन रिसर्च इंस्टीट्यूट' की ओर से एक पर्चा वितरित किया गया, जिसमें वैज्ञानिक आंकड़ों से यह सिद्ध किया गया है कि चन्द्रमा पर अपोलो के जाने का दावा झूठा है। इसके लिए निम्न प्रमाण दिये गये हैं। अपोलो एक सौ उन्नीस मील दूर गया। वहाँ से पूर्व की तरफ मुड़कर दो लाख तीस हजार मील जाकर चंद्रमा पर उतरा, परंतु पृथ्वी की ऊँचाई का कक्ष एक सौ नब्बे मील से अधिक नहीं है और चन्द्रमा दुनियाँ से 31 लाख 68 हजार मील दूर है, इसके लिए अपोलो को इतना दूर जाना चाहिए। परंतु वह अभी तक अंतरिक्ष अनुसंधान वैज्ञानिकों के अनुसार एक सौ नब्बे मील से ज्यादा दूर नहीं गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपोलो सीधा न जाकर पृथ्वी के ही किसी अज्ञात पर्वत पर उतर गया।

दूसरा कारण चन्द्रभूमि से मिट्टी के जो तथाकथित नमूने यहाँ लाये गये हैं, वे पृथ्वी के नमूने जैसे ही हैं - यह वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।

तीसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक एक तरफ कहते हैं कि चन्द्रमा पर हवा नहीं है और वर्षा नहीं होती। जबकि दूसरी तरफ कहते हैं कि वहाँ पाँच छह इंच गहरी नमी है। इससे स्पष्ट होता है कि वह चन्द्रमा की भूमि नहीं है।

चौथा कारण कैप केनेडी वैज्ञानिक बार-बार कहते हैं कि चन्द्रमा की बनावट पृथ्वी जैसी है। जिससे यह सिद्ध होता है कि जिस जगह अपोलो गया, वह पृथ्वी का ही अज्ञात स्थान है।

पाँचवाँ कारण अपोलो उत्तर से दक्षिण दिशा में पृथ्वी के चक्कर काटता रहा, लेकिन वह पूर्व से पश्चिम की ओर एक सौ नब्बे मील जाने के बाद टेढ़ा होकर पूर्व दिशा में दो लाख तीस हजार मील गया था।

छठा कारण अपोलो चन्द्रमा पर कैसे पहुँचा, जबकि उड़ान लेते समय उसका कोण विष्वत रेखा से सात अंश था तथा चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच की दूरी उस समय अत्यधिक थी।

सातवाँ कारण अपोलो आठ, नौ, दस व ब्यारह के अतिरिक्त

यात्रियों ने चन्द्रमा भूमि को सपाट बताया है। उसे धूल का सागर, गहरे गड्ढों की भूमि, शांत हुए ज्वालामुखियों का गहरा गर्त बताया है। इससे स्वतः स्पष्ट होता है कि वह स्थान पृथ्वी का कोई अज्ञात स्थान ही है।

ऐसी स्थिति में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि अपोलो से लेकर 14/15 तक जिस स्थान पर उतरे उसे चन्द्रमा ही मान लिया जाये। हो सकता है कि वे किसी अन्य स्थान पर उतरे हों और चन्द्रमा मान लिया गया हो।

इसके अतिरिक्त चन्द्रयात्री वैज्ञानिकों की रिपोर्ट भी परस्पर असंबद्ध है, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से भी अभी किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

यह कहा जाता है कि चन्द्रमा पर भीषण शीत, धूल और आँधी के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वहाँ किसी प्राणी का रहना संभव नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि जो वातावरण वहाँ है, वह चन्द्रमा में नहीं हो सकता, अतः वह चन्द्रमा भूमि नहीं है।

पृथ्वी का व्यास चन्द्रमा के व्यास से चार गुणा अधिक है और चन्द्रमा का व्यास पृथ्वी से सात इंच की प्लेट की तरह दिखायी देता है। यह दावा किया गया कि कथित चन्द्रभूमि से पृथ्वी के चित्र खींचे गये हैं और उन्हें प्रसारित किया गया है। उनमें यह बात दिखायी नहीं देती। न ही उसके ऊपर इस प्रकार कोई प्रकाश पड़ता है। अतः चन्द्रमा से पृथ्वी के चित्र लेने का दावा भी झूठा है।

इस पर्व ने खगोल शास्त्रियों में खलबली मचा दी है।

**प्रश्न-232 :** मुगलकाल में जैन धर्माचार्यों व जैन धर्म का क्या स्थान था ? पाकिस्तान बनने से पूर्व वहाँ जैनाचार्य विचरण करते थे क्या ? अब वहाँ जैन है या नहीं ?

**उत्तर :** यह प्रश्न इतिहास से संबंधित है। यदि हम जैन दर्शन का इतिहास देखें, तो यह हजारों वर्ष पुराना ही नहीं है, जैन दर्शन का इतिहास लाखों, करोड़ों, असंख्य वर्ष पुराना है। वर्तमान का इतिहास

काल भी हजारों वर्षों पूर्व का मिलता है। भगवान पार्श्वनाथ और उनके पूर्व प्रभु अरिष्टनेमि को आज के इतिहासकार ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। जैन धर्म वर्तमान अवसरिणी काल की अपेक्षा से प्रभु ऋषभदेव से चल रहा है। इस दृष्टि से भी असंख्य वर्ष बीत चुके हैं।

यह निश्चित है कि मुगलकाल में जैन धर्म था। उस समय में भी जैनाचार्यों का उल्लेख मिलता है। हीर विजयजी, सिद्धिचन्द्रजी आदि का प्रभाव अकबर बादशाह पर था। बड़े-बड़े राजा- महाराजाओं के समय में और मुगलों के समय में जैन धर्म प्रभावी रूप में था।

दूसरा प्रश्न है - पाकिस्तान में जैन धर्म है या नहीं ? जिस समय हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का संघर्ष हुआ, उस समय पाकिस्तान में जैन मुनि थे। वहाँ पर जैन लोग बसते थे। आज भी बहुत से जैन पाकिस्तान में रहते होंगे। कुछ लोग वहाँ के निवासी बन गये, कुछ लोग वहाँ से भारत चले आये। अतः अब भी कुछ जैन पाकिस्तान में हो सकते हैं।

**प्रश्न-233 :** आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा मानव में कब और कैसे प्रवेश करती है ?

**उत्तर :** आत्मा का स्वरूप सत् चित् आनंदमय है। सत् का तात्पर्य है - जिसका अस्तित्व हो। चित् का तात्पर्य है - जो चैतन्य हो और आनंद का अर्थ है - जो परम शान्तिमय हो। जैसे यह खंभा जड़ पदार्थ है, इसमें चेतना नहीं है। यह उत्पन्न होनेवाला है, लेकिन चैतन्य शक्ति इसमें नहीं है, इसमें आनंद की अनुभूति नहीं है। आत्मा का स्वरूप सत् चित् आनंद है।

दूसरा प्रश्न है कि मानव के शरीर में आत्मा कब प्रवेश करती है ? आत्मा का अनादि स्वरूप है। यह आनादि काल से कर्मों से जकड़ी हुई/बंधी हुई है। जैसे-जैसे आत्मा के परिणाम बनते हैं, वह जैसी-जैसी क्रियाएँ करती है वैसे-वैसे कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं शास्त्रों में 84 लाख योनियाँ मानी हैं। यह आत्मा इन योनियों में परिभ्रमण कर रही है, अनेक बार इसने मनुष्य तन धारण किया है। यह संभव नहीं कि

पहली बार ही यह मनुष्य तन में आयी हो। अनेक बार मानव तन स्वीकार किया है। वर्तमान में व्यक्ति जैसा पुरुषार्थ करता है, तदनुकूल फल मिलता है, मनुष्य योनि के योग्य कर्म करता है, तो मनुष्य भव मिलता है, तिर्यच के योग्य कर्म करता है, तो तिर्यच भव मिलता है। जैसी क्रिया करता है, वैसी गति मिलती है। हमारे मनुष्य की योग्यता के अनुकूल कर्म हुए, इसलिए हम मनुष्य तन में विद्यमान हैं। अच्छी क्रिया करते हैं, तो स्वर्ग में जा सकते हैं, खराब क्रिया करते हैं, तो नरक में जा सकते हैं, मनुष्य जीवन ऐसा है, जहाँ से चारों गति में जा सकते हैं।

**प्रश्न (अ) :** एक वैज्ञानिक ने बताया कि गर्भ धारण करने के चार माह बाद आत्मा का प्रवेश होता है, क्या यह ठीक है ?

**उत्तर :** जैन तत्व ज्ञान कि दृष्टि से जैसे ही शुक्र-शोणित दोनों तत्वों का संयोग होता है, वैसे ही अंतर्मुहूर्त में (5/7 मिनिट में) आत्मा आ जाती है। माता आहार ग्रहण करती है, उसी के अनुसार शरीर निर्मित होता है। फिर इन्द्रियाँ निर्मित होती हैं, फिर क्रमशः निर्माण क्रिया 9 माह तक चलती है।

**प्रश्न (आ) :** चार माह बाद आत्मा आने की बात कहाँ तक सच है ?

**उत्तर :** संभव है, आपको विज्ञान का पूरा अध्ययन नहीं है। वैज्ञानिक तो यहाँ तक मानते हैं कि तीन माह बाद तो यह ज्ञात हो जाता है कि गर्भस्थ शिशु बालक है कि बालिका ? अतः जब गर्भ की स्थिति बनती है, उसी समय आत्मा आती है और उसी की अध्यक्षता में शरीर निर्मित होता है।

**प्रश्न-234 :** योग क्या है ? जैन धर्म में योग का क्या महत्व है ? गृहस्थ जीवन में योग की साधना कैसे की जाती है ?

**उत्तर :** जैन दर्शन में योग का व्यापक विवेचन मिलता है। योग के विषय में प्रभु के सिद्धांत का जैनाचार्य विभिन्न रूपों में वर्णन करते हैं। महर्षि पतंजली ने कहा कि “योगश्चित्तवृत्ति निरोधः” योग से चित्त की वृत्तियाँ रुकती हैं। योग अपनी चित्तवृत्तियों का विचारों का



निरोध करनेवाला है, रोकनेवाला है। जब चित्तवृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब योग की परिपूर्ण स्थिति बनती है। लेकिन चित्तवृत्तियाँ रोकी नहीं जा सकतीं, उनका प्रवाह मोड़ा जा सकता है। आचार्य प्रवर ने गंभीर अनुशीलन के पश्चात् योग की मौलिक परिभाषा दी है-

**“योगश्चित्त वृत्ति संशोधः”**

योग वह है, जो चित्तवृत्तियों अथवा विचारों में संशोधन करता है, आचरण में संशोधन करता है। हमारे मस्तिष्क में शुभ विचार भी आ सकते हैं, अशुभ विचार भी आ सकते हैं। मुँह से सही शब्द भी निकल सकते हैं और गलत शब्द भी। आचरण सही भी हो सकता है और गलत भी। यह जो प्रवाह है, वह मन, वचन और काया का योग है। इन प्रवाहों में जो दूसरे विकृत तत्व मिलते हैं, उनका संशोधन किया जाये। हमारे जो गलत विचार हैं, उनका संशोधन कर दिया जाये। यह परिभाषा सही मालूम होती है, क्योंकि चित्तवृत्तियाँ रोकी नहीं जा सकतीं। आँखों पर रंगीन चश्मा लगाया जाये, तो रंगीन दृश्य यथारुचि रंग दिख सकता है। हमारे आचरण से रंगीनी को हटा दिया जाये। अब रहा - गृहस्थ जीवन में योग-साधना का सवाल।

गृहस्थ भी मन, वचन और काया- इन तीनों से अच्छे प्रयोग कर सकता है, चाहे वह घर पर, दुकान पर या और कहीं रहे। यदि अपनी चित्तवृत्तियों को प्रशस्त दिशा प्रदान कर रहा है, तो वह भी एक प्रकार से योग साधना कर रहा है। किन्तु पूर्ण योग के लिए परिपूर्ण साधना में उतरना होगा।

योग में मूलतः तीन तत्व हैं, मन योग, वचन योग और, काया योग। मन से चिंतन करते हैं, मुँह से वचन का प्रयोग करते हैं और काया से आचरण करते हैं। गलत आचरण का चिंतन नहीं करें। सही सोचें और जैसा विचार करते हैं, वैसा ही व्यवहार करें। जीवन में व्यवहार सही नहीं बनता, तो योग की अंतरंग साधना नहीं की जा सकती।

**प्रश्न-235 :** भगवान को किसी ने नहीं देखा, फिर उनकी

तरह की मूर्तियाँ कैसे बनायी गयीं ?

उत्तर : भगवान को वर्तमान में नहीं देखा है। अतः भगवान की मूल आकृति की मूर्तियाँ नहीं मिलती हैं। बाद में कलाकारों ने अपनी समझ के अनुसार मूर्तियाँ निर्मित कीं। यदि भगवान को देखकर मूर्तियाँ बनायी होतीं, तो सब तीर्थकरों की मूर्तियाँ अलग-अलग होतीं। किन्तु आज जैसी महावीर की या ऋषभदेव भगवान की मूर्तियाँ मिलती हैं, प्रायः वैसी ही दूसरे भगवान की मिलती हैं। जिन्होंने भगवान को नहीं देखा, उन्होंने अपनी कल्पना के आधार पर बनायी हैं, क्योंकि मूलभूत भगवान की मूर्तियाँ मिलती ही नहीं हैं।

**प्रश्न-236** : महावीर स्वामी अहिंसा के अवतार हैं, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर : भगवान महावीर स्वामी के पीछे जितने और जो-जो विशेषण लगाये गये हैं, वे यथेष्ट रूप में सार्थक विशेषण लगाये गये हैं। महावीर के जन्म के समय जो सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण था, वह हिंसा से परिपूर्ण था। वह हिंसा, हिंसा की दृष्टि से हो रही थी, ऐसी बात नहीं थी। धर्म की दृष्टि से हिंसा हो रही थी। कहीं अश्वमेघ यज्ञ हो रहा था, कहीं नरमेघ यज्ञ हो रहा था, तो कहीं पशुओं का हवन किया जा रहा था। यह सब धर्म के नाम पर हो रहा था। धार्मिक कहलानेवाले लोग हिंसा कर रहे थे। जिन मनुष्यों और पशुओं की बलि दी जा रही थी, उनके बारे में कहा जाता था कि वे स्वर्ग में पहुँच रहे हैं। ऐसी भ्रांति धर्म के संबंध में चल रही थी। तो उस समय प्रभु महावीर ने अनेक विषयों में क्रांति की। उन में एक स्वर ऐसा भी था, जिसे अभयदान कहते हैं। संसार के सभी प्राणी शांति प्रिय हैं, कोई मरना नहीं चाहता। सभी जीना चाहते हैं। सब को जीने दो। इसी नारे को लेकर उस समय अहिंसक क्रांति हुई, जिसे रूढ हिंसा का अवतार कहा गया। वे अनूठे लोकोत्तर पुरुष हुए हैं। उनका जीवन ही अहिंसामय हो गया, इसलिए वे अहिंसा के अवतार कहलाये।

**प्रश्न-237** : दुनिया ना हेतु सूं छे दुर्गुणो नु मूल सूं? आवती

चौबीसी मां पण तीर्थकरो नक्की थयेला होय, तो पुरुषार्थ नुं बीज केटलु ?

**उत्तर :** जैन दर्शन शास्त्र दुनिया को अनादिकालीन मानते हैं। कहाँ शुरुआत हुई - इसका पता नहीं। दूसरे मतावलम्बी इसे ईश्वरीय देन मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन कहता है कि सृष्टि अनादिकालीन है, अनंत काल चलती रहती है। इसके रूप में परिवर्तन होता है। जहाँ स्थल-भूमि है, वहाँ जल-भूमि या समुद्र हो जाता है और जहाँ जल है, वहाँ स्थल या पहाड़ हो जाते हैं। इस के पीछे हेतु नहीं है। जो शाश्वत है, उसका हेतु नहीं होता। अंडे से मुर्गी पैदा हुई या मुर्गी से अंडा पैदा हुआ ? यह अनादि है, एक-दूसरे से पैदा होते हैं।

इनका दूसरा प्रश्न है- कर्म का मूल क्या है ? इसका उत्तर यह है कि कर्म का मूल आत्मा की राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति है। अपनी ही शुभ-अशुभ प्रवृत्ति द्वारा कर्म बंधते हैं। कर्म वर्गणा के पुद्गल सृष्टि में भरे हैं, शरीर पुद्गल के बीच में है। आत्मा जिस समय जैसा कार्य करती है, वैसे ही कर्म उसके चिपक जाते हैं। कर्म का मूल आत्मा है।

इनका तीसरा प्रश्न है कि आगामी तीर्थकर नक्की है, फिर पुरुषार्थ क्यों ? हमें पुरुषार्थ तीर्थकर बनने के लिए नहीं करना है। आत्मा को कर्मों से मुक्त कराने के लिए पुरुषार्थ करना है। आत्मा जब कर्मों से रहित हो जाती है, तब तीर्थकर बनते हैं। हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे आत्मा शुद्ध बन जाये। इसके अतिरिक्त तीर्थकर कुछ ही चौबीसियों के निश्चित हैं। अतः अन्य व्यक्ति भी तीर्थकर नाम कर्म का बंधन करके तीर्थकर बन सकते हैं, आनेवाली अनेक चौबीसियों में या महाविदेह क्षेत्र में।

**प्रश्न-238 :** केवल ज्ञान क्या है ? पुराने जमाने में होता था, तो इस समय क्यों नहीं होता ? बाल ब्रह्मचारी साधु क्यों नहीं केवल ज्ञान प्राप्त करने की ओर अग्रसर होते ?

**उत्तर :** पहला प्रश्न है कि केवलज्ञान क्या है? केवलज्ञान वह ज्ञान है, जिसके द्वारा ब्रह्मांड के तीनों लोकों में अथवा पूरे विश्व में क्या

हो रहा है- इस बात को एक ही समय में जान सकें, एक ही समय में देख सकें। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में क्या हो रहा है, भविष्य में क्या होगा, उसको एक ही समय में देख लें, स्फटिक मणि जितनी साफ होती है, उसमें उतना ही स्पष्ट दिखायी देता है, उसी तरह केवलज्ञानी को पूरे ब्रह्माण्ड में क्या हो रहा है, क्या होगा, यह दिखायी देता है, इसको कहते हैं, केवल ज्ञान।

अब रहा सवाल कि आज के युग में केवलज्ञान क्यों नहीं होता ? आत्मा की जितनी शक्ति पहले थी, उतनी आज भी है। लेकिन इस आत्मा को जिस प्रकार शरीर से पुरुषार्थ करना चाहिए, उसमें अंतर आ गया है, 1000 वाल्ट का बल्ब जितना प्रकाश खुले स्थान पर फैलाता है, उतना यदि उसे एक मटकी में ही रख दिया जाये, तो नहीं करेगा। मटकी में मटकी-जितने क्षेत्र में ही प्रकाश करेगा। वर्तमान युग में इस शरीर से केवल ज्ञान प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। इसलिए आज केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता। केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए वज्र ऋषभनाराच संहनन (हड्डियों की मजबूती) चाहिए और वह आज उपलब्ध नहीं है। इस संहनन में पूरी ट्रेन भी शरीर पर से निकल जाये, तो भी कुछ नहीं बिगड़े और यह सब कमजोरी इस ह्रास काल के कारण हो रही हैं।

**प्रश्न-239 (अ) :** बताया जाता है कि मनुष्य जीवन पाना बहुत कठिन है, लेकिन मनुष्य जीवन पाना इतना सरल हो गया कि उनको रोकने के लिए सरकार काफी रूपया खर्च कर रही है। फिर भी रोक नहीं पा रही है ? तो हम कैसे मानें कि मनुष्य जीवन पाना बहुत दुर्लभ है ?

(ब) यह तो सर्व मान्य है कि भगवान आदिनाथ के समय में तिथि की गिनती नहीं थी, फिर भी उनकी जन्म तिथि और उनके समय के श्रावकों की गिनती कैसे बतायी जाती है ?

**उत्तर :** (अ) वस्तुतः मनुष्य जीवन पाना बहुत दुर्लभ है। किन्तु केवल मानव चोले की दुर्लभता नहीं बतायी है, मानवता को दुर्लभ बताया है। आज मनुष्यों की संख्या तो बढ़ रही है, लेकिन उनमें

मानवता कितनी है ? अगर मानवता बढ़ती, तो सरकार रोकने का प्रयास नहीं करती।

शास्त्रों में जो बात कही गयी है, वह मनुष्यत्व की है, मनुष्य चोले की नहीं, मानवता दुर्लभ है, मानव दुर्लभ नहीं है। वैसे एकेंद्रिय से बेइंद्रिय बनते हैं और उससे भी आगे विकास करते हैं, तो अनंत पुण्यवानी के द्वारा ही। दूसरी बात यद्यपि दुर्लभता मनुष्यत्व की बतायी गयी है, किन्तु मनुष्य तन भी प्राप्त होना सहज नहीं है। आज जो जनसंख्या बढ़ रही है और सरकार के रोके नहीं रूक रही है, इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य जीवन सुलभ है। पूर्व में जिन्होंने पुण्य का अर्जन किया और देवलोक में गये हैं अथवा पाप के द्वारा नरक-तिर्यच में गये हैं, वे मरकर पुनः मनुष्य गति में आ रहे हैं। अतः यह उनके पुण्य के कारण ही मिल रहा है।

**उत्तर (ब)** - आपका दूसरा प्रश्न तिथि और गिनती के बारे में हैं। उस समय भी वर्ष, तिथि और महीने थे और ये अनादिकाल से चले आ रहे हैं, विक्रम संवत् बाद में चला है। लेकिन तिथि, महीने, पर्व वर्तमान में है, भूत में थे और भविष्य में भी रहेंगे।

**प्रश्न-240** : आजकल जैन समाज में जैन संस्कार से शादी तथा नामकरण हो रहा है। क्या उचित है या नहीं ? इस बारे में आपके क्या विचार हैं ?

**उत्तर** : ये शादी-विवाह और जन्म-संस्कार आदि आपके सामाजिक रीति-रिवाज हैं। धर्म का गहरा सम्बन्ध रीति-रिवाज से नहीं होता। समाज के रीति-रिवाज का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। समाज के विधि-विधान समाज बनाती है। मृत्यु संस्कार के बाद संतों के पास जायेंगे, तो वे माँगलिक सुना देंगे। इसी तरह विवाह संस्कार के समय उनके पास जाते हैं, तो भी माँगलिक सुना देते हैं। साधुता की दृष्टि से उनका आपके सांसारिक कामों में सम्मिलित होना अनुचित है। संत यह कार्य नहीं करते। शादी संस्कार बंधन है। साधु के ब्रह्मचर्य की मर्यादा है। संत अगर ऐसा कार्य करें कि विवाह मंडप में जाकर माँगलिक

सुनाकर सम्बन्ध जुड़वा दें, तो यह अनुचित है।

**प्रश्न-241 :** हम सभी जैनी स्थानकवासी, मंदिरमार्गी आदि संवत्सरी पर्व एक साथ मनाने में क्यों असमर्थ हैं, इसका क्या कारण है। क्या भविष्य में यह पर्व एक साथ मनाया जायेगा ?

**उत्तर :** इस सम्बन्ध में आपने सुना होगा। मैंने कई बातें कही हैं। सारे जैन समाज की संवत्सरी एक दिन होती है, तो मैं तत्पर हूँ, मैंने यहाँ तक शब्दों का प्रयोग किया है कि अन्य समाजवाले मुझे बिना पूछे एक तिथि निर्धारित कर दें, तो मैं इसको अम्लीरूप देने के लिए तैयार हूँ, लेकिन यह निर्धारण सर्वानुमति से हो। एक हाथ से ताली नहीं बज सकती। सभी तैयारी करें, तो संवत्सरी एक रोज हो सकती है।

**प्रश्न-242 :** क्या भगवान महावीर ने यही उपदेश दिया है कि एक ही समुदाय के 36 आचार्य हो और इतने बड़े जैन पर्व को अलग-अलग दिन मनायें। क्या इसके लिए श्रावक, साधु या ग्रंथ दोषित है ?

**उत्तर :** भगवान महावीर ने शास्त्रीय दृष्टि से बतलाया कि जिस रोज चौमासी प्रतिक्रमण किया जाये, उस रोज से 49 या 50 वें दिन संवत्सरी पर्व मनाना चाहिए और संवत्सरी के पश्चात् 70 वें दिन विहार होना चाहिए। यह शास्त्रीय उल्लेख है। इसको कोई माने या न मानें। कई लोग परंपरा को बीच में ले आते हैं, तब शास्त्रीय उल्लेख गौण हो जाता है। भगवान महावीर के सिद्धांत एक हैं। सिद्धांत के अनुसार चलें, तो अंतर आने का प्रश्न नहीं है। आचारांग सूत्र श्वेतांबर समाज के लिए सर्व मान्य है। उसके अनुसार सारे विधि-विधान सरलता से बन जायें, तो सारी समस्या हल हो जाती है। इसके अनुसार नहीं चलते हैं, इसीलिए भिन्नता आ रही है।

एक पिता ने पुत्रों से कहा कि भाई! ईमानदारी से रहना। कभी बेईमानी नहीं करना। व्यापार भी ईमानदारी से करना। आगे चलकर एक पुत्र कहता है कि आज के जमाने में हम ईमानदारी से नहीं रह सकते। हम तो बेईमानी से रहेंगे। उसने पिता का कहना नहीं माना और अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने लगा। इसमें दोष पिता का नहीं है। पिता का आदेश तो सब के लिए समान है।

वैसे ही भगवान का उपदेश सब के लिए एक है, लेकिन आचरण करनेवालों में भिन्नता है, इसलिए भिन्नता दिखती है। सिद्धांत की दृष्टि से देखें और चलें, तो कोई भिन्नता नहीं रह सकती।

**प्रश्न-243 :** क्या गृहस्थ जीवन यापन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति संभव है ?

**उत्तर :** चूंकि गृहस्थ में रहते हुए उसे अनेक प्रकार के पाप, जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है, करने पड़ते हैं और हिंसा आदि का सेवन करते हुए मोक्ष नहीं हो सकता है।

**प्रश्न-244 :** आत्मा यदि अमर है, तो इसकी संख्या निश्चित है या नहीं ?

**उत्तर :** प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र इकाई है। उसका मौलिक स्वरूप एक है, किन्तु इसकी संख्या की गणना की जा सके, इस रूप में निर्धारित नहीं है। अनंत संख्या की गिनती नहीं हो सकती। जैसे कर्म होते हैं, आत्मा वैसा ही शरीर धारण करती है। एक आत्मा ने पशुयोनि के कर्म किये हैं, तो वह पशुयोनि में चली जायेगी। देव योनि में जाने के कर्म किये हैं, तो देव योनि में चली जायेगी। आत्मा अपने-अपने कर्मों के आधार पर विभिन्न योनियों में जाती है। इसलिए व्यवहारिक दृष्टि से कहते हैं कि आत्मा जन्म लेती है, मरती है, किन्तु वास्तव में आत्मा मरती नहीं, उसका पर्याय बदलता है। एक शरीर से दूसरा शरीर धारण करती है। आत्मा नष्ट नहीं होती, पैदा नहीं होती, पर्याय बदलती है। किन्तु अपने मूल रूप में सदा बनी रहती है, इसीलिए उसे अमर कहा गया है।



## श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा प्रकाशित साहित्यों की सूची

- |  |                                   |
|--|-----------------------------------|
| आचार्य श्री जवारहलालजी म.सा.<br>का साहित्य | 10. समीक्षण ध्यान एक मनोविज्ञान   |
| क्र.सं. साहित्य का नाम                     | 11. संस्कार क्रांति भाग-1         |
| 1. सेठ धन्ना चरित्र                        | 12. संस्कार क्रांति भाग-2         |
| 2. अनुकम्पा विचार भाग-1                    | 13. समता दर्शन और व्यवहार         |
| 3. अनुकम्पा विचार भाग-2                    | 14. समता निर्झर                   |
| 4. सम्यकत्व स्वरूप                         | 15. ऐसे जीयें भाग-1               |
| 5. चिंतन मनन अनुशीलन-3                     | 16. ऐसे जीयें भाग-2               |
| आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा.<br>का साहित्य | 17. ताप और तप                     |
| 1. पूर्ण स्वतंत्रता की राह                 | 18. किं जीवनम्                    |
| 2. जैन संस्कृति का राजमार्ग                | 19. ज्योतिर्मय की ज्योतिर्धारा    |
| 3. नवीनता के अनुगामी                       | 20. बनो अभय तो पाओ जय             |
| 4. आत्मदर्शन                               | 21. क्रांतिकारी कदम आगे बढ़ते रहे |
| 5. चिंतन मनन अनुशीलन भाग-2                 | 22. शांति के सौपान                |
| श्री जवाहर विद्यापीठ-भीनासर                | 23. नव निधान                      |
| 6. जवाहर किरणावली साहित्य (क्र.1-32)       | 24. आध्यात्मिक ज्योति             |
| 7. ज्योतिर्धर                              | 25. चेतन अपने घर आओ               |
| 8. सद्धर्ममण्डलम्                          | 26. प्रवचन पीयूष                  |
| आचार्य श्री नानालालजी म.सा. का साहित्य     | 27. मन की माला                    |
| 1. जिणधम्मों ग्रन्थ                        | 28. समता मति गति दृष्टि की        |
| नानेशवाणी साहित्य (क्र. 1-49)              | 29. अपने को समझें                 |
| 1. गुणस्थान स्वरूप और विश्लेषण             | 30. आपका भविष्य आपके हाथ          |
| 2. आह्वान अपनी चेतना का                    | 31. मनुष्यों को देवताओं का नमन    |
| 3. अनुभूति के क्षण                         | 32. दुःख और सुख                   |
| 4. आत्म साक्षात्कार                        | 33. सच्चा सौंदर्य                 |
| 5. कषाय समीक्षण भाग-1                      | 34. निर्वाण और ज्योति             |
| 6. कषाय समीक्षण भाग-2                      | 35. सर्व त्याग की साधना           |
| 7. समीक्षण धारा                            | 36. सर्व मंगल सर्वदा              |
| 8. परदे के उस पार                          | 37. उभरते प्रसंग                  |
| 9. समीक्षण करें मन का                      | 38. अध्यात्म के बिखरे मोती भाग-1  |
|  | 39. अध्यात्म के बिखरे मोती भाग-2  |
|  | 40. गहरी पर्त के हस्ताक्षर        |



- |  |  |
|--|--|
| 41. लक्ष्यभेद                            | 65. जिणधम्मों भाग-2 (गुजराती)                |
| 42. नल दमयंती भाग-1                      | 66. एक साधे सब सधे                           |
| 43. कुंकुंके पगल्लिए                     | 67. मुनि धर्म और ध्वनीवर्द्धक यंत्र          |
| 44. अखण्ड सौभाग्य                        | 68. जलते जायें जीवन दीप                      |
| 45. अन्तर के प्रतिबिम्ब                  | 69. देवता दोनों बार हारे                     |
| 46. नानेश दृष्टांत सुधा                  | 70. एक रात बीती                              |
| 47. निर्ग्रन्थ परम्परा में चैतन्य आराधना | 71. कफन की कड़ी कसौटी                        |
| 48. नल दमयंती भाग-2                      | 72. परदे के उस पार                           |
| 49. अध्यात्म के बिखरे मोती भाग-3         | 73. पावस प्रवचन                              |
| 50. समीक्षण धारा                         | <b>आचार्य श्री रामलालजी म.सा. का साहित्य</b> |
| 51. कर्म प्रवृत्ति भाग-1                 | <b>श्री रामउवाच साहित्य (क्र. 1-11)</b>      |
| 52. कर्म प्रवृत्ति भाग-2                 | 1. आणाए मामगं धम्मं                          |
| 53. अंतगड्दशाओं                          | 2. यतना की महिमा                             |
| 54. आदर्श भ्राता                         | 3. चैतन्य की यात्रा                          |
| 55. वह पांव ये पांव                      | 4. दो कदम सूर्योदय की ओर                     |
| 56. धुल गये खून के हाथ                   | 5. मानवता की खोज                             |
| 57. विजय के ऊपर विजय                     | 6. मन शुद्धि परम सिद्धि                      |
| 58. बुद्धि कभी हारती नहीं                | 7. आत्मकल्याण का मार्ग                       |
| 59. वह खाण्डे की धार चली                 | 8. धर्म सुना तो क्या हुआ                     |
| 60. अंगुली से उपजा उजाला                 | 9. गंगा लौट हिमालय आये                       |
| 61. झौंपड़ी की आग महल में                | 10. करें तीर्थ की परिक्रमा                   |
| 62. अभिमान हाथी का                       | 11. बिन कुँजी के खुले न ताला                 |
| 63. समता दर्शन और व्यवहार (अंग्रेजी)     | 12. अंतगड्दसूत्र                             |
| 64. जिणधम्मों भाग-1 (गुजराती)            | 13%. मंथन का नवनीत                           |

**अन्य चारित्रात्माओं के साहित्य**

**क्र.सं. साहित्य का नाम**

1. प्रचलित स्तोत्र सार्थ
2. साधुमार्ग की पावन सरिता
3. तत्त्वार्थ सूत्र
4. जैन बाल शिक्षा
5. अनुभूति के सुनहरे क्षण
6. अपश्चिम तीर्थंकर महावीर भाग-1
7. अपश्चिम तीर्थंकर महावीर भाग-2
8. काव्यमय उत्तराध्यन-सूत्र
9. वरमाला से पाया ज्ञान उजाला

**लेखक का नाम**

- श्री प्रकाशमुनिजी म.सा.  
 श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.  
 श्री सम्पत्तमुनिजी म.सा.  
 संकलित  
 साध्वी श्री मनोहरकंवरजी म.सा.  
 साध्वी श्री विपुलाश्रीजी म.सा.  
 साध्वी श्री विपुलाश्रीजी म.सा.  
 श्री वीरेन्द्रमुनिजी म.सा.  
 श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.

10. एक सितार अस्सी झणकार	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
11. चमत्कार	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
12. स्वाभिमान	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
13. नाना गुरु की कहानी	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
14. समीक्षण ध्यान मनोविज्ञान का एक प्रयोगात्मक रूप	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
15. गणेशगुणशतक	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
16. दहेज की बलिवेदी पर	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
17. धर्म के गीत	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
18. श्री गणेशीलालजी म.सा. का जीवन चरिच	श्री गौतममुनिजी म.सा.
19. जीवन सरसिनी अमृतधारा	महाश्रमणीरत्ना साध्वी श्री इंद्रकंवरजी म.सा.
20. आत्मशुद्धि का पर्व पयुर्षण	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
21. आहार शुद्धि	श्री गौतममुनिजी म.सा.
22. श्री गणधर चालीसा	श्री गौतममुनिजी म.सा.
23. तीर्थंकर चालीसा	श्री गौतममुनिजी म.सा.
24. रात की बात	श्री गौतममुनिजी म.सा.
25. एक सितार 66 झणकार	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
26. उत्थान पतन	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.
27. चैतन्य प्रबोध	श्री धर्मेशमुनिजी म.सा.

#### धार्मिक परीक्षा बोर्ड व शिविर साहित्य

1. जैन तत्त्व भाग-1
2. जैन तत्त्व भाग-2
3. परमार्थ परिचय भाग-1
4. परमार्थ परिचय भाग-2
5. जैन स्तोक मंजूषा भाग 1 से 10
6. दशवैकालिक सूत्र
7. जैन संस्कार पाठ्यक्रम भाग 1 से 9
8. शिविर पाठ्यक्रम भाग 1 से 10
9. जैन सिद्धांत परिचय
10. जैन सिद्धांत प्रवेशिका प्रथम खण्ड
11. जैन सिद्धांत प्रवेशिका-II भाग-1
12. जैन सिद्धांत प्रवेशिका-II खण्ड भाग-2
13. समता जैन स्वाध्याय भूषण

14. समता जैन स्वाध्याय प्रवेशिका
15. समराईच्चकहा भाग-1
16. समराईच्चकहा भाग-2
17. साधना विवेक
18. चम्पकमाला चरित्रम्

### अन्य विविध साहित्य

- |     |                                |                        |
|-----|--------------------------------|------------------------|
| 1.  | जीवन और धर्म                   | संकलन                  |
| 2.  | स्थानांग-सूत्र                 | संकलन                  |
| 3.  | जैन आचार                       | संकलन                  |
| 4.  | शाकाहार या मांसाहार            | संकलन                  |
| 5.  | आगम सार                        | संकलन                  |
| 6.  | निरतिशय नानेश                  | श्री इन्दरचंदजी बैद    |
| 7.  | समीक्षण ध्यान साधना            | श्री मगनलालजी मेहता    |
| 8.  | द्वादश चरित्र संग्रह           | श्री सज्जनसिंहजी मेहता |
| 9.  | अद्भुत योगी                    | संकलन                  |
| 10. | आध्यात्मिक ज्योति              | संकलन                  |
| 11. | जैन विवाह पद्धति               | डॉ. नेमीचंदजी जैन      |
| 12. | जीवन की पगदड़िया               | डॉ. नरेन्द्र भानावत    |
| 13. | सहज घरेलु चिकित्सा             | श्री कन्हैयालालजी भूरा |
| 14. | भगवान महावीर आधुनिक संदर्भ में | डॉ. नरेन्द्र भानावत    |
| 15. | समता पर्युषण पर्व आराधना       | श्री सज्जनसिंहजी मेहता |
| 16. | समता स्वाध्याय                 | संकलन                  |
| 17. | बाल बोध                        | संकलन                  |
| 18. | गुरुवंदना                      | संकलन                  |
| 19. | सामायिक साधना                  | श्री संतोषचंदजी नाहर   |
| 20. | समता, स्वाध्याय स्तवन संग्रह   | श्री सज्जनसिंहजी मेहता |
| 21. | समता जैन स्वाध्यायी भूषण       | श्री सज्जनसिंहजी मेहता |
| 22. | अविस्मरणीय झलक                 | श्री पीरदानजी पारख     |
| 23. | वितराग विज्ञान                 | श्री दौलतरामजी         |
| 24. | संकल्प समता स्वाध्याय          | श्री प्रतापचंदजी भूरा  |
| 25. | ध्यान एक अनुशीलन               | श्री प्रतापचंदजी भूरा  |
| 26. | कषाय मुक्ति एक विवेचन          | श्री प्रतापचंदजी भूरा  |
| 27. | समीक्षण स्वाध्याय संग्रह       | श्री प्रतापचंदजी भूरा  |
| 28. | जागरण संदेश                    | श्री मगनलालजी मेहता    |

29.	प्रार्थना	संकलन
30.	धर्म जागरण पदयात्रा	श्री भंवरलालजी कोठारी
31.	आदर्श नारी	संकलन
32.	श्रीमद् जवाहराचार्य जीवन साहित्य	संकलन
33.	आगम पुरुष	श्री नेमीचंदजी जैन
34.	संस्कार मार्गदर्शक	संकलन
35.	समता स्वाध्याय स्तवन संग्रह	संकलन
36.	धर्म जागरण भाग 1 से 3	संकलन
37.	कषाय मुक्ति भाग 1 से 13	संकलन
38.	यशोविजम् महाकाव्य	संकलन
39.	समीक्षण ध्यान साधना	संकलन
40.	समता सुमन	संकलन
41.	चौबीसी स्तवन	संकलन
42.	साधुमार्गी जैन संघ की अनमोल मणियाँ	संकलन
43.	तुम सूर्य हो मैं कमलिनी	श्रीमती प्रीति सुराणा

### तत्त्व साहित्य

1.	सामायिक-सूत्र
2.	प्रतिक्रमण-सूत्र
3.	कल्पमर्यादा
4.	समता तत्त्व बोध
5.	श्रावक के बारह व्रत
6.	श्रावक के चौदह नियम
7.	तत्त्व का ताला ज्ञान की कुँजी भाग-1
8.	तत्त्व का ताला ज्ञान की कुँजी भाग-2
9.	तत्त्व का ताला ज्ञान की कुँजी भाग-3
10.	तत्त्व का ताला ज्ञान की कुँजी भाग-4
11.	25 बोल
12.	लघुदण्डक
13.	आगम स्तोक मंजूषा भाग-3
14.	आगम स्तोक मंजूषा भाग-4
15.	आनुपूर्वी
16.	प्रभात पाठ
17.	कर्म स्तोक मंजूषा